जाति, संस्कृति
और
समाजवाद

स्वामी विवेकानन्द

श्रीरामकृष्ण आश्रम,
नागपुर, मध्यप्रदेश

अगस्त १९५३]

[मूल्य १)

प्राक्कथन

प्रस्तुत पुस्तक स्वामी विवेकानन्दजी के, 'जाति, संस्कृति और समाजवाद' पर मौलिक एवं उद्बोधक विचारों का संकलन है। ये सब स्वामीजी के ग्रंथों के विभिन्न भागों से चुनकर सग्रहित किए गए हैं। इनमें स्वामीजी ने हिन्दू जाति की सामाजिक व्यवस्थाओं की पाश्चात्यों की सामाजिक व्यवस्था के साथ तुलना करते हुए उन्नति के रहस्य पर प्रकाश डाला है।

हमारी इस महान् हिन्दू जाति का एक आदर्श रहा है और उस आदर्श की बुनियाद पर ही उसने अपनी समस्त जाति-व्यवस्था की रचना की थी। वह पुराकाल में एक अत्यन्त गौरवशाली संस्था रही है। पर आज हम देखते हैं कि वह नष्टगौरव हो धूल में मिली जा रही है। उसका वह आदर्श क्या था, जिसके बल पर वह युगों तक समस्त राष्ट्रों की अग्रणी बनी रही? उसका पतन कैसे हुआ और वह आज की इस हीन दशा में कैसे पहुँची — इसका चित्र स्वामीजी ने अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ अपनी मर्मस्पर्शी भाषा में अंकित किया है।

साथ ही, स्वामीजी ने उस आदर्श तक पुनः उन्नति करने के उपायों का भी निर्देश किया है। स्वामीजी समाजवाद के प्रेमी थे, पर वे चाहते थे कि उसका आधार यावत् अस्तित्व का आध्यात्मिक एकत्व हो। वे समाज में क्रान्ति चाहते थे, पर यह उनकी इच्छा नहीं थी कि वह हिंसात्मक हो अथवा विप्लव का रूप धारण करे, वरन् उसकी बुनियाद पारस्परिक प्रेम एवं अपनी संस्कृति की यथार्थ जानकारी हो। वे इससे सहमत नहीं थे कि समाज में समता स्थापित करने के लिए हम पाश्चात्यों का अन्धानुकरण करें, वरन् वे चाहते थे कि हम अपनी संस्कृति एवं आध्यात्मिकता द्वारा परिचालित हों। विकास सदैव भीतर से ही होना चाहिए। हमें जिसकी आवश्यकता है, वह है भारत के महान् आध्यात्मिक आदर्शवाद के साथ पाश्चात्यों के सामाजिक उन्नति विषयक विचारों का संयोग।

हम पं० द्वारकानाथजी तिवारी, बी. ए., एल-एल. बी., के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकाशित करते हैं, जिन्होंने सफलतापूर्वक अँगरेजी ग्रंथ से प्रस्तुत पुस्तक का अनुवाद किया है।

हमारा यह पूर्ण विश्वास है कि आज, जब हम हिन्दू समाज के विभिन्न अंगों के बीच विवाद और कलह का ताण्डव नृत्य देख रहे हैं, स्वामीजी की भारत की जाति एवं संस्कृति सम्बन्धी यह गम्भीर विवेचना बहुत लाभदायक सिद्ध होगी।

१५ अगस्त, १९५३ प्रकाशक

अनुक्रमणिका

स्वामी विवेकानंद

जाति, संस्कृति और समाजवाद

१

पृष्ठभूमि

गिरिराज हिमालय के चिर शुभ्र हिमाच्छादित शिखरों से तीव्र वेग से फूटकर निकलनेवाले कितने झरने एवं गरजते हुए जल-प्रपात, कितने बरफीले नाले और सततप्रवाही नदियाँ एक साथ मिलकर विशाल सुर-सरिता गंगाजी के रूप में प्रवाहित होती हुई समुद्र की ओर लपककर वेग से दौड़ती हैं ! इसी प्रकार, अगणित सन्तों के हृदय से तथा विभिन्न भू-भागों के प्रतिभाशाली व्यक्तियों के मस्तिष्क से उत्पन्न हुए कितने प्रकार के भावों तथा विचारों एवं शक्तिप्रवाहों ने उच्चतर मानवी कार्यों के प्रदर्शन-क्षेत्र, कर्मभूमि भारत को पहले से ही व्याप्त कर रखा है !

सचमुच, भारत विभिन्न मानव-वंशों का मानो एक संग्रहालय ही है ! नर और वानर में सम्बन्ध स्थापित करनेवाला जो एक अस्थि-कंकाल हाल ही में सुमात्रा में पाया गया है, वह शोध करने पर, संभवतः, यहाँ भी प्राप्त हो सकता है। यहाँ प्रागैतिहासिक काल के पाषाण-निर्मित द्वार-प्रकारों (Dolmens) का अभाव नहीं। चकमक के औजार तो प्रायः कहीं भी खोदकर निकाले जा सकते हैं। ....फिर, ऐतिहासिक काल की नेग्रिटो-कोलेरियन (Negrito-Kolarian), द्राविड़ तथा आर्य मानव-वंश भी यहाँ पाए जाते हैं। इनके साथ समय-समय पर प्रायः

समस्त ज्ञात एवं बहुत से आज भी अज्ञात मानव-वंशों का किसी अंश में सम्मिश्रण होता रहा है।...उफनती, उबलती, संघर्ष करती और सतत रूप बदलती हुई तथा ऊपरी सतह तक उठकर, फैलकर, छोटी-छोटी लहरों को निगलकर पुनः शान्त होती हुई इन विभिन्न मानव-वंशरूपी तरंगों से बना हुआ मानवता का महासागर——यही है भारतवर्ष का इतिहास।

इन भिन्न-भिन्न मानव-वंशों के संयोग से हमारे वर्तमान समाजों, रीतियों और रूढ़ियों का विकास होना प्रारम्भ हुआ। नए विचार उत्पन्न होते गए और नए विज्ञानों का बीजारोपण होने लगा। एक श्रेणी के मनुष्य हस्तकौशल या बौद्धिक श्रम-द्वारा उपयोग और आराम की भिन्न-भिन्न वस्तुएँ बनाने लगे, तथा दूसरे वर्ग के मनुष्यों ने उनके संरक्षण का भार अपने ऊपर ले लिया; और वे सब इन वस्तुओं का विनिमय करने लगे। तब ऐसा हुआ, जो लोग बहुत चतुर थे, उन्होंने इन वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाने का काम अपने ऊपर लिया, और वे इस कार्य के पारिश्रमिक शुल्क के बहाने लाभ का अधिकांश स्वयं ही लेने लगे। एक ने भूमि को जोतकर खेती की, दूसरे ने उसकी पैदावारी को लूट-पाट से बचाने के लिए उसकी रखवाली की, तीसरे ने उस पैदावारी को दूसरी जगह पहुँचाया और चौथे ने उसे ख़रीद लिया। खेती करनेवाले को लगभग कुछ नहीं मिला; रखवाली करनेवाला जितना ले सका, बलपूर्वक ले गया; बाजार वाले व्यापारी ने उसमें से प्रमुख भाग ले लिया और को उन वस्तुओं के लिए बेहिसाब दाम देना पड़ा, भार के कारण उसे कष्ट होता रहा! रखवाली करनेवाला लगा; वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान को ले

जानेवाला व्यापारी बना। इन दोनों ने उत्पन्न तो कुछ भी नहीं किया, पर तो भी उन्होंने उन वस्तुओं का उत्तमांश छीन लिया। कृषक के श्रम और मजदूरी के फलों का अत्यधिक लाभ उठाकर वे स्वयं तो मोटे-ताजे बन गए, और बेचारा कृषक, जिसने इन सब वस्तुओं को उत्पन्न किया, भूखों मरने लगा और ईश्वर से सहायता माँगने लगा।

अब, कालक्रम से समस्याएँ जटिल होती चली और ग्रंथियों पर ग्रंथियों की वृद्धि हो गई। बस इसी उलझन और गुत्थियों के जाल से हमारे वर्तमान जटिल समाज का विकास हुआ है। अतीत आचार के चिह्न आज भी बने ही हुए हैं, और पूर्णतया मिटते नहीं हैं।

एशिया की सम्पूर्ण सभ्यता का विकास प्रथमतः बड़ी नदियों के समीप के मैदानों और उपजाऊ भूमियों में — गंगा, यागसी-कियांग और यूफ्रेटिज नदियों के कछारों में — हुआ। इन सभ्यताओं का मूल आधार कृषिकर्म ही है, और इन सबमें दैवी प्रकृति की प्रधानता है। एतद्विपरीत, अधिकांश यूरोपीय सभ्यता का उद्भव पर्वत-प्रदेशों या समुद्र-तटों में हुआ है — जल और स्थल में लूटमार ही इस सभ्यता का आधार है; उसमें आसुरी प्रकृति की प्रधानता है।

यूरोपीय सभ्यता की तुलना उस वस्त्रखंड से की जा सकती है, जो इन उपादानों से बना है — उसे बुनने का 'करघा' समुद्र-तट पर का विस्तृत समशीतोष्ण पहाड़ी प्रदेश है; उसका 'कपास' विभिन्न जातियों की वर्णसंकरता से उत्पन्न प्रबल युद्ध-प्रिय जाति है; उसका 'ताना' अपने शरीर और अपने धर्म की रक्षा के लिए लड़ा जानेवाला युद्ध है... और उसका 'बाना'

वाणिज्य है। उस सभ्यता का साधन तलवार है; उसके सहायक —साहस और शक्ति, और उसका उद्देश ऐहिक और पारलौकिक सुखोपभोग है।

आर्य-सभ्यतारूपी वस्त्र का 'करघा' विस्तृत, गरम, समधरातल प्रदेश है, जिसमें स्थान-स्थान पर चौड़ी, जहाज़ चलने लायक नदियाँ प्रवाहित हो रही हैं। इस वस्त्र का 'कपास' है अतिसभ्य, अर्धसभ्य और जंगली जातियाँ, जिनमें अधिकांश आर्य हैं। उसका 'ताना' है वर्णाश्रम-धर्म और उसका 'बाना' है प्रकृतिगत कलह और प्रतियोगिता पर विजय-प्राप्ति।

यूरोपनिवासियों का उद्देश है अपने जीने के लिए अन्य सबका अन्त कर देना, और आर्यों का उद्देश है सभी को ऊपर उठाकर अपने समकक्ष बनाना; यही नहीं, बल्कि अपने से भी ऊँचे स्तर पर पहुँचाना। यूरोपीय सभ्यता का साधन तलवार है और आर्य-सभ्यता का साधन है विभिन्न वर्ण-विभाग। भिन्न-भिन्न वर्णों में विभाजित करने का यह तरीका सभ्यता की सीढ़ी है, जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी-अपनी विद्वत्ता और संस्कृति के अनुसार उच्च से उच्चतर बन सकता है। यूरोप में सर्वत्र शक्तिमान की विजय और दुर्बल की मृत्यु है; पर भारतभूमि में प्रत्येक सामाजिक नियम दुर्बल की रक्षा के लिए है।

* * * *

ब्राह्मण, क्षत्रिय इत्यादि.... ये समाज के विभिन्न वर्णों के नाम, जिसमें उसके अपने भीतर, ध्येय तक पहुँच जाने पर भी, सतत -बढ़ होता रहता है। और तत्पश्चात्, उनके अपने दायरे के भीतर निम्नतर जातियों और विदेशवासियों का बलात् प्रवेश हो जाने के कारण, उनका सम्पूर्ण प्रयत्न अन्य वर्ण या जातियों के

साथ विवाह निषिद्ध करके, अपने वर्ण को सुदृढ़ और विशुद्ध बनाए रखने की ओर होता है। जिस जाति में तलवार की शक्ति होती है, वह क्षत्रिय बन जाती है; विद्वत्ता की शक्ति से ब्राह्मण और धन-शक्ति से वैश्य जाति बन जाती है। जो समुदाय अपने ईप्सित उद्देश को पहुँच गए हैं, वे सचमुच अपनी ही जाति में अन्तर्विभाग करके नवागत लोगों से अपने को पृथक् रखने का प्रयत्न करते हैं, पर सत्य तो यह है कि अन्त में सब एक हो जाते हैं। ऐसा हमारी आंखों के सामने भारतवर्ष में सर्वत्र हो रहा है। ...हमारी अपनी भिन्न-भिन्न जातियों के होते हुए भी और एक जाति के अन्तर्गत उपजातियों में ही विवाह करने की हमारी वर्तमान प्रथा के रहते हुए भी (यद्यपि यह प्रथा सर्वत्र नहीं है) हमारा यह मानव-वंश हर तरह से मिश्रित-वंश ही कहा जा सकता है।

वर्ण-व्यवस्था सदैव अत्यन्त लचीली रही है—इतनी अधिक लचीली कि कई बार तो सभ्यता की श्रेणी में अत्यन्त निम्न जाति को भी उन्नत होने का निश्चित अवसर प्राप्त हुआ है। इससे यह हुआ कि कम-से-कम सिद्धान्त की दृष्टि से, समस्त भारत का पथ-प्रदर्शन धन या तलवार के द्वारा नहीं, बल्कि बुद्धि के द्वारा हुआ, जो आध्यात्मिकता से परिमार्जित और नियंत्रित थी।

आर्यों में सर्वोच्च ब्राह्मण जाति ही भारतवर्ष की अग्रगण्य जाति है। यद्यपि ऊपरी तौर से देखने में आर्यों की वर्ण-व्यवस्था अन्य देशों की सामाजिक व्यवस्थाओं से भिन्न दिखती है, तथापि बारीकी से निरीक्षण करने पर पता लगेगा कि इन दोनों में केवल निम्न दो बातों को छोड़ कोई अधिक अन्तर नहीं है : प्रथम तो यह कि

अन्य प्रत्येक देश में सर्वोच्च सम्मान खड्ग के उपासक क्षत्रिय को प्राप्त होता है।...पर भारतवर्ष में सर्वोच्च सम्मान शान्ति-उपासक शर्मन्—ईश्वर-उपासक ब्राह्मण को प्राप्त होता है।...और द्वितीय बात है—इकाई (Unit) का भेद। अन्य देशों में जाति-नियम एक व्यक्ति—पुरुष या स्त्री—को ही पर्याप्त इकाई मान लेता है। किसी एक व्यक्ति का धन, शक्ति, बुद्धि या सौंदर्य ही उसे अपने जन्म-गत सामाजिक स्तर को छोड़कर, किसी भी उच्चतर स्तर पर उठाने के लिए पर्याप्त होता है। पर यहाँ भारतवर्ष में एक जाति के सभी व्यक्तियों को मिलाकर इकाई मानी जाती है। यहाँ भी हर किसी को नीची जाति से उच्चतर या उच्चतम जाति में उन्नत होने का हर तरह अवसर प्राप्त है; पर यहाँ इस परोपकारिता (Altruism) के सिद्धान्त की जन्मभूमि में एक व्यक्ति के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह अपने साथ अपनी समग्र जाति को उन्नत करे।...भारतवर्ष में यदि कोई उच्चतर जाति में उठना चाहता है, तो उसे पहले अपनी समग्र जाति को उन्नत करना होगा, और फिर उसकी उन्नति के मार्ग में रोकनेवाला कुछ भी नहीं रहता।

तब फिर भारतवर्ष की सामाजिक व्यवस्था का आधार क्या है?—वह है जाति-नियम। मैं जाति के लिए जन्म लेता हूँ और जाति के लिए ही जीता हूँ।... जाति में जन्म लेने पर जाति के नियमों के अनुसार ही सम्पूर्ण जीवन बिताना होगा। या आधुनिक भाषा में इसे हम यों कह सकते हैं कि...पाश्चात्य मनुष्य मानो वैयक्तिक रूप में जन्म लेता है और हिन्दू सामाजिक रूप में।... इसी लिए मैं अपने विवाह के बारे में खुद कुछ नहीं बोल सकता, और न अपने विवाह के बारे में मेरी बहन ही बोल

सकती हैं। जाति ही उस सबका निर्णय करती है। कभी-कभी तो हमारा विवाह बचपन में ही हो जाता है। ऐसा क्यों?—क्योंकि जाति का कहना है कि जब इनका विवाह बिना इनकी सम्मति के ही होना है, तो यह विवाह छोटी आयु में ही हो जाना बेहतर है।...तुम कहोगे, "ओह! सुख-भोग का बहुत सा अवसर वे खो डालते हैं; पुरुष को स्त्री से प्रेम करते समय और स्त्री को पुरुष से प्रेम करते समय जो अपूर्व भावों का अनुभव होता है, उसे वे खो डालते हैं...।" पर हिन्दू कहता है, "हम तो सामाजिक हैं। एक पुरुष के या एक स्त्री के अपूर्व आनन्द के लिए हम समाज के सैकड़ों व्यक्तियों पर दुःख का भार नहीं डालना चाहते।"

हमारी जातियाँ और हमारी संस्थाएँ हमें एक राष्ट्र के रूप में सुरक्षित रखने के लिए आवश्यक रही हैं। और जब इस आत्मरक्षा की आवश्यकता नहीं रहेगी, तब ये स्वाभाविक रूप से नष्ट हो जाएँगी। पर ज्यों-ज्यों मैं बड़ा होता जा रहा हूँ, त्यों-त्यों भारतवर्ष की इन प्राचीन संस्थाओं को अधिक अच्छी तरह समझता जा रहा हूँ। एक समय ऐसा था कि मैं इनमें से बहुतों को व्यर्थ और निरुपयोगी समझता था; पर जैसे-जैसे मैं बड़ा हो रहा हूँ, वैसे-वैसे ही मैं उनको दूषित बताने का साहस नहीं कर सकता; क्योंकि उनमें से प्रत्येक कई शताब्दियों के अनुभव का मूर्तिमान रूप है।

केवल कल का छोकरा, जो परसों निश्चय ही मरनेवाला है, मुझसे आकर कहता है कि तुम अपने सब कार्यक्रम बदल डालो। और यदि मैं उस बच्चे की बात को मानकर अपनी सभी परिस्थितियों को उसके विचारों के अनुसार बदल डालूँ, तो मैं ही मूर्ख बनूँगा, और दूसरा कोई नहीं। विभिन्न देशों से जो सलाहें

हमें मिलती हैं, वे बहुतेरी इसी प्रकार की हैं। इन बुद्धिमानों से कह दो, "हम तुम्हारी बात तब सुनेंगे, जब तुम स्वयं अपने यहाँ सुदृढ़ समाज बना लोगे। तुम एक विचार पर दो दिन तो दृढ़ रह नहीं सकते, तुम झगड़ा कर बैठते हो और असफल हो जाते हो। तुम छोटे-छोटे मौसमी कीड़े के समान पैदा होकर उन्हीं के समान पाँच मिनट में मर जाते हो, तुम बुद्बुद् के समान ऊपर आते हो और बुद्बुद् के समान ही फूट जाते हो। पहले हमारे समान स्थायी समाज बना लो। पहले नियम और संस्थाएँ ऐसी बना लो, जिनकी शक्ति शताब्दियों तक क्षीण न हो। तब तुम्हारे साथ इस विषय में बात करने का समय आएगा। तब तक, मित्रवर, तुम निरे बच्चे हो।"

वे कहते हैं, जाति नहीं होनी चाहिए। जो लोग जाति में रहते हैं, वे भी कहते हैं कि यह पूर्णता-प्राप्त संस्था नहीं है। पर वे कहते हैं कि जब तुम हमारे लिए कोई दूसरी अधिक उपयोगी संस्था मिला दोगे, तब हम इसे छोड़ देंगे। वे कहते हैं, हमें इसके बदले में क्या दोगे? कहीं ऐसा देश भी है, जहाँ जाति न हो? तुम्हारे देश (संयुक्त अमेरिका, U. S. A.) में जाति-निर्माण करने का तुम लोग सतत प्रयत्न कर रहे हो। ज्योंही कोई व्यक्ति थैली भर 'डॉलर' प्राप्त कर लेता है, वह कहने लगता है, "मैं तो उन 'चार सौ' (करोड़पतियों) में से एक हो गया।" सत्य यह है हम भारतवासी ही अकेले स्थायी जाति बनाने में सफल हुए दूसरे राष्ट्र प्रयत्न कर रहे हैं, पर सफल नहीं हो पा रहे हैं। कुसंस्कार और दोष पर्याप्त हैं। क्या पाश्चात्यों के कुसंस्कारों दोषों को ग्रहण करने से स्थिति सुधर जायगी? जाति ण ही तीस करोड़ मनुष्यों को खाने को अभी तक रोटी

का टुकड़ा मिल रहा है। माना कि यह एक अपूर्ण संस्था है, पर यदि जाति न रहती, तो तुम्हे कोई संस्कृत पुस्तक अध्ययन करने को न मिलती। इस जाति ने ही ऐसी दीवालें खड़ी की, जिनके चारों ओर हर तरह की चढ़ाइयो की लहरें आईं, पर उन्हें तोड़ न सकीं। वह आवश्यकता आज (२५ मार्च १८९६) तक दूर नहीं हुई है; इसी लिए जाति बची हुई है।

* * * *

ऊँची श्रेणीवालों को नीचे खींचने से समस्या हल नही हो सकती, बल्कि नीचे की श्रेणीवालों को ऊपर उठाने से ही वह हल होगी। और यही कार्य-प्रणाली हम अपने सभी ग्रन्थों में पाते हैं; भले ही तुम उन लोगों से, जिनका शास्त्र-ज्ञान और पूर्वजों की शक्तिसम्पन्न कार्य-प्रणाली को समझने की योग्यता शून्य मात्र है, कुछ भी सुनो।... यह कार्य-प्रणाली कौनसी है ? आदर्श के एक छोर पर तो ब्राह्मण है और दूसरे छोर पर चाण्डाल; और सम्पूर्ण कार्य यही है कि चाण्डाल को ब्राह्मण तक ऊँचा उठा दिया जाय। धीरे-धीरे तुम चाण्डालों को अधिकाधिक अधिकार दिए जाते हुए पाओगे। ऐसे कुछ ग्रन्थ हैं, जिनमें ये कठोर शब्द पढ़ने को मिलेंगे कि "यदि शूद्र वेद सुनता है, तो उसके कानों में पिघला हुआ शीशा भर दो और यदि उसने एक-आध पंक्ति याद कर ली हो, तो उसकी जीभ काटकर अलग कर दो।"... आगे चलकर, इस स्वर में कुछ नरमाई आई है; उदाहरणार्थ—"शूद्रों को मत सताओ, पर उन्हें उच्च ज्ञान मत सिखाओ।" फिर क्रमशः अन्य स्मृतियों में—विशेषकर जिन स्मृतियों का आज पूरा प्रभाव है, उनमें—हम यह पाते हैं कि यदि शूद्र लोग ब्राह्मणों के रीति-रिवाजों की नकल करें, तो अच्छा ही है, उन्हें उसमें

प्रोत्साहित करो। वस इसी प्रकार चलता आया है।...स्पष्ट सत्यों की ओर दृष्टि डालने से हम यही पाते हैं कि सभी जातियों को धीरे-धीरे ऊपर उठना है। यहाँ सहस्रों जातियाँ हैं, और कुछ जातियाँ तो ब्राह्मण वर्ग में भी प्रवेश पा गई हैं। कारण, किसी भी जातिवालों को 'हम ब्राह्मण हैं' ऐसी घोषणा करने से कौन रोक सकता है? इस प्रकार, अपनी समस्त कठोरता के साथ जाति का निर्माण इसी तरह होता रहा है। मान लो, यहाँ ऐसी अनेक जातियाँ हैं, जिनमें प्रत्येक में दस हजार मनुष्य हैं। अगर ये लोग एकमत होकर कहें कि "हम अपने को ब्राह्मण कहेंगे," तो उनको रोकनेवाला कौन है? मैंने ऐसी वात स्वयं अपने जीवन में देखी है। कुछ जातियाँ सवल हो जाती हैं और ज्योंही वे एकमत हो गईं कि उन्हें "नहीं" कौन कह सकता है?—क्योंकि, जो भी कुछ रहा हो, प्रत्येक जाति दूसरे से विलकुल अलग रहा करती थी। एक जाति दूसरी जाति के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करती थी, यहाँ तक कि एक जाति के भिन्न-भिन्न विभाग भी दूसरे विभागों में हाथ नहीं डालते थे। और शंकराचार्य आदि शक्तिमान युग-प्रवर्तकगण महान् जाति-निर्माता थे।

मैं समस्त जातियों को समतल कर डालने के लिए नहीं कहता। जाति तो बहुत अच्छी चीज है। जाति के क्रम का ही हम अनुसरण करना चाहते हैं। जाति यथार्थ में क्या है, इस बात को लाख में एक भी नहीं समझता। संसार में विना जाति का कोई देश नहीं है। भारतवर्ष में, हम जाति से चलकर ऐसी अवस्था पर पहुँचते हैं, जहाँ कोई जाति ही नहीं है। इसी सिद्धान्त पर जाति की सारी रचना हुई है। भारत की यही योजना है कि प्रत्येक व्यक्ति को ब्राह्मण वनाया जाय; क्योंकि

ब्राह्मण ही मानवता का आदर्श है। यदि तुम भारतवर्ष का इतिहास पढ़ोगे, तो यही देखोगे कि सर्वदा निम्न जातियों को ऊपर उठाने के प्रयत्न होते रहे हैं। ऐसी कई जातियाँ हैं, जो ऊपर उठ चुकीं। और भी बहुत सी जातियाँ ऊपर उठेंगी, जब तक कि सभी ब्राह्मण नही बन जाती। यही योजना है। किसी को नीचे गिराए बिना उनको ऊपर उठाना है।

हमारे पूर्वजों का आदर्श पुरुष ब्राह्मण था।...यूरोप में जो 'कार्डिनल' (उच्च धर्माधिकारी) हैं, वे अपने पूर्वजों की कुलीनता सिद्ध करने के लिए कठोर प्रयत्न कर रहे हैं और हजारों पौंड खर्च कर रहे हैं; और उन्हें तब तक सन्तोष न होगा, जब तक वे किसी ऐसे भीषण अत्याचारी से अपने पूर्वज होने का सम्बन्ध न जोड़ लें, जो किसी पहाड़ी पर रहा हो और वहाँ से राहगीरों को ताकता तथा मौका पाते ही उन पर छापा मारकर उन्हें लूट-मार लेता हो।...भारतवर्ष में,...तुम्हारी जाति सबसे ऊँची तब गिनी जायगी, जब तुम किसी ऋषि से पूर्वज का सम्बन्ध जोड़ सको, अन्यथा नही। हमारा आदर्श आध्यात्मिक संस्कृतिसम्पन्न वैराग्यवान ब्राह्मण है। 'ब्राह्मण आदर्श' से मेरा मतलब क्या है? मेरा मतलब है—आदर्श ब्राह्मणत्व, जिसमें संसारी भाव बिलकुल नही और यथार्थ ज्ञान प्रचुर मात्रा में हो। यही हिन्दू जाति का आदर्श है।

ब्राह्मण-जाति और ब्राह्मण्य-गुण दो भिन्न बातें हैं। भारतवर्ष में मनुष्य अपनी जाति के कारण ब्राह्मण माना जाता है। पर पाश्चात्य देशों में तो वह ब्राह्मण्य-गुणों के कारण ही ब्राह्मण माना जा सकेगा। जैसे सत्त्व, रज और तम तीन गुण हैं, उसी प्रकार ऐसे भी गुण हैं, जिनसे मनुष्य का ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र

होना जाना जाता है। इस देश में ब्राह्मण और क्षत्रिय के गुणों का लोप होता जा रहा है; पर पश्चिमवाले क्षत्रियत्व तक अब पहुंच गए हैं, जहां से अगला कदम ब्राह्मणत्व का है, और वहां बहुतेरों ने अपने को उसके योग्य बना भी लिया है।

सात्विक भाव के अधिक मात्रा में होने पर मनुष्य निष्क्रिय होकर सदा गंभीर ध्यानावस्था में रहता है; रजोगुण की अधिकता होने पर वह अच्छे और बुरे दोनों कार्य करता है; और तमोगुण की प्रवृत्ति में वह कर्मरहित और आलसी बन जाता है।... सतोगुण की प्रवृत्ति में मनुष्य निष्कर्म रहकर निश्चय ही शान्त रहता है; पर वह निष्कर्म होने की अवस्था महान् शक्तियों के केन्द्रीभूत होने का परिणाम है। वह शान्ति अति प्रबल शक्ति की जननी है।...वह सत्त्वप्रधान पुरुष ब्राह्मण है, वह सबका पूज्य है। 'मेरी पूजा करो' कहने के लिए क्या उसे द्वार-द्वार भटकना पड़ता है? ... और देखो, ध्यान रखो कि जो अक्षर-अक्षर को दबाकर नाक से बोलते हैं, जिनकी आवाज आठ दिन लंघन करनेवाले के समान क्षीण है, जो गीले चिथड़े के समान पड़े रहते हैं और लात मारने पर भी कोई आवाज नहीं उठाते, ऐसे कायर, स्त्री-सदृश पुरुषों में जो लक्षण पाए जाते हैं, उनको नीचतम तमोगुण के लक्षण जानो; ये सब मृत्यु के—सड़ेपन और दुर्गन्ध के—चिह्न हैं, सतोगुण के नहीं।...गत सहस्र वर्षों से सम्पूर्ण देश सारे वायुमण्डल को ईश्वर के नाम से भर दे रहा है और ईश्वर की प्रार्थना कर रहा है, पर भगवान उनकी ओर कान तक [illegible]हीं दे रहे हैं। और वे सुनें भी क्यों? जब मनुष्य ही मूर्ख की [illegible]र को नहीं सुनता, तो क्या तुम समझते हो कि भगवान [illegible]?...कैसी विडम्बना है! यूरोपवालों के भगवान ईसा मसीह

सिखाते हैं—कोई शत्रु मत रखो; तुम्हें जो कोसें, उन्हें तुम आशीष दो,...सब काम बन्द कर दो और परलोक के लिए तैयार रहो...। और हमारे भगवान गीता में कहते हैं—सर्वदा अत्यन्त उत्साहपूर्वक कर्म करो, अपने शत्रुओं का विनाश करो और संसार का सुख भोगो। पर अन्त में हुआ क्या? ईसा मसीह या कृष्ण ने जो कुछ कहा, उसका बिलकुल उलटा ही हुआ। ...गीता के उपदेशों का पालन कौन कर रहा है?—यूरोपनिवासी! और ईसा मसीह की इच्छा के अनुरूप कौन चल रहे हैं?—श्रीकृष्ण के वंशज!

...अब तुम समझो, पश्चिम में ब्राह्मण हैं या नहीं। तुम्हारे यहाँ (भारतवर्ष में) भी ब्राह्मण हैं, पर उन्होंने अपने भयंकर अत्याचार के कारण देश को नष्टप्राय कर दिया है, और फलतः जो कुछ उनमें स्वाभाविक गुण थे, वे क्रमशः नष्ट होते जा रहे हैं।

मेरे शिष्य सब ब्राह्मण हैं! ...ब्राह्मण का पुत्र सदा ब्राह्मण ही होता है ऐसा नहीं। यद्यपि हर तरह संभावना तो यही है कि वह ब्राह्मण ही हो, फिर भी हो सकता है कि वैसा न भी हो। क्या तुमने सुना नहीं कि बागबाजार के अघोर चक्रवर्ती का भतीजा मेहतर हो गया, और अपनी नई जाति के सभी निकृष्ट काम तक करता था? क्या वह ब्राह्मण का बालक नहीं था?

जैसे प्रत्येक मनुष्य में सत्त्व, रज और तम—इनमें से एक या दूसरा कम या अधिक मात्रा में—होते हैं, उसी तरह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र बनानेवाले गुण भी कम या अधिक प्रमाण में प्रत्येक मनुष्य में स्वभावतः रहते ही हैं। परन्तु कभी-कभी इनमें से किसी एक या दूसरे गुण की भिन्न-भिन्न प्रमाण में प्रधानता हुआ करती है और तदनुसार वह गुण बाहर दिखाई देता है।

उदाहरणार्थ, किसी मनुष्य को भिन्न-भिन्न कार्य करते समय देखो; जब वह वेतन के लिए दूसरे की सेवा करने में लगा है, तब वह शूद्र है; जब वह अपने ही लाभ के लिए कोई व्यापार कर रहा है, तब वैश्य है; अत्याचार के विरुद्ध जब वह लड़ रहा है, तब उसमें क्षत्रिय के गुण प्रकट होते हैं; और जब वह परमेश्वर का ध्यान करता है या अपना समय ईश्वरसम्बन्धी वार्तालाप में बिताता है, तब वह ब्राह्मण है। अतएव यह स्पष्ट है कि एक जाति से दूसरी जाति में परिवर्तित हो जाना बिलकुल सम्भव है। अन्यथा, विश्वामित्र ब्राह्मण, और परशुराम क्षत्रिय कैसे हुए?

जाति का आधार गुण है, इस बात का स्पष्ट प्रमाण महाभारत के भीष्मपर्व में तथा अजगर और उमा-महेश्वर के आख्यानों में पाया जाता है।

प्रत्येक व्यक्ति किसी एक विशिष्ट शक्ति के प्रकट होने का केन्द्र है। हमारे पूर्वकर्मों के फलस्वरूप ही यह शक्ति संचित हुई है, और हममें से प्रत्येक इसी शक्ति को अपने साथ लेकर जन्म लेता है।

इसी महान् सत्य को भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में समझाने का प्रयत्न किया है और इसी महान् सत्य के आधार पर हिन्दू-धर्म की वर्णाश्रम-प्रथा और स्वधर्म के सिद्धान्त आदि की स्थापना हुई है।

एक वैदिक धर्म ही ऐसा है, जो चतुर्वर्ग — धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष — की प्राप्ति के मार्ग और साधनों पर विचार करके नियमों को निर्धारित करता है।... सही और सच्चा मार्ग तो वेदों का 'जातिधर्म' और 'स्वधर्म' ही है। 'जातिधर्म' का

अर्थ है भिन्न-भिन्न जाति के लिए निर्धारित धर्म, और 'स्वधर्म' का तात्पर्य है मनुष्य का स्वयं अपना धर्म या उसकी योग्यता और अवस्था के अनुसार निर्धारित उसके कर्तव्य। ये ही वैदिक धर्म और वैदिक समाज के आधार हैं।... यह जातिधर्म, यह *स्वधर्म प्रत्येक देश में सभी समाजों के कल्याण का* मार्ग है—मोक्ष-प्राप्ति का सोपान-स्वरूप है। इस जातिधर्म की, इस स्वधर्म की अवनति के साथ-साथ हमारे देश का अधःपतन हुआ है। परन्तु जातिधर्म या स्वधर्म का जैसा अर्थ आजकल उच्च जातिवाले लगाते हैं, वह तो एक नया दोष है, जिससे बचना चाहिए। वे समझते हैं कि वे जातिधर्म की सब बातें जानते हैं; पर वे यथार्थ में उसका कुछ भी नहीं जानते। अपने ग्राम की रूढ़ि को ही वेदोक्त सनातन धर्म मानकर, सब अधिकारों को आप ही अपनाकर वे अपने विनाश की ओर जा रहे हैं! मैं यहाँ पर गुणगत जाति की बात नहीं करता, वरन् जन्मगत जाति-भेद की बात कह रहा हूँ। मैं यह स्वीकार करता हूँ कि गुणगत जाति ही मुख्य है, परन्तु दुःख तो यह है कि दो-तीन पीढ़ियों में ही जाति का निर्णय गुणों के अनुसार न होकर जन्म के अनुसार होने लगता है। इस प्रकार हमारे राष्ट्रीय जीवन के मर्मस्थल को धक्का लग चुका है, अन्यथा हम इस हीन दशा में क्यों पहुँचते? *गीता में लिखा है—"तब तो मैं जाति के वर्णसंकर का कारण* बन जाऊँगा और इन मनुष्यों का नाश करूँगा।"* यह भयानक वर्णसंकर कैसे आया, जिसमें सभी जातियों का विचित्र सम्मिश्रण है और गुणों के कारण होनेवाले भेद का लोप हो गया है? हमारे पूर्वजों का गौर वर्ण अब काला कैसे हो गया? सत्त्व का स्थान

---

* "संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः"—भगवद्गीता, ३।२४

इस प्रवृद्ध तमोगुण ने, जिसमें रजोगुण के मानो कुछ छींटे पड़े हुए हैं, कैसे ले लिया? यह एक लम्बी कहानी है और इसका उत्तर किसी भविष्य अवसर पर दूँगा। अभी तो यही समझने का प्रयत्न करो कि यदि जातिधर्म की सच्ची तरह से ठीक-ठीक रक्षा की जाय, तो राष्ट्र का पतन कभी नहीं हो सकता। यदि यह सच है, तो हमारे अधःपतन का कारण क्या है? हमारे पतन से यह निश्चित है कि जातिधर्म के आधार में विकृति कर दी गई है। अतः, जिसे तुम जातिधर्म कहते हो, वह आज के प्रचलित जातिधर्म के बिलकुल विपरीत है। पहले अपने शास्त्रों का बारीकी से अध्ययन करो, तब तुम आसानी से समझ सकोगे कि शास्त्रों ने जातिधर्म की जिस तरह परिभाषा की है, वह जातिधर्म देश के प्रायः प्रत्येक भाग से लुप्त हो गया है। अब सच्चे जातिधर्म को वापस लाने का प्रयत्न करो और तभी वह देश के लिए सच्चा वरदान-स्वरूप होगा।

२

अतीत काल के स्वर में

आधुनिक भारतवासी प्राचीन आर्य-कुल के गौरव नहीं हैं। किन्तु राख से ढकी हुई अग्नि के समान इन आधुनिक भारत-वासियों में छिपी हुई पैतृक शक्ति अब भी विद्यमान है। यथासमय उस सर्वशक्तिमान की कृपा से उसका पुन: स्फुरण होगा। प्रस्फुरित होकर क्या होगा?

क्या मनु का नीति-शास्त्र पुराकाल के समान पुनः उसी प्रभाव से प्रतिष्ठित हो जायगा अथवा देश-भेद के अनुसार भक्ष्या-भक्ष्य-विचार का ही आधुनिक काल के समान सर्वतोमुखी प्रभुत्व रहेगा? क्या जाति-भेद बना रहेगा, और क्या वह गुणानुसार (गुणगत) होगा अथवा सदा के लिए वह जन्म के अनुसार (जन्मगत) ही रहेगा? पुनश्च, उस जाति-भेद के अनुसार भोजन-सम्बन्ध में छुआछूत का विचार बंग देश के समान रहेगा अथवा मद्रास आदि प्रान्तों के समान महान् कठोर रूप धारण करेगा या पंजाब आदि प्रदेशों के समान वह एकदम ही दूर हो जायगा? भिन्न-भिन्न वर्णों का विवाह क्या मनु के द्वारा बतलाए हुए अनुलोम-क्रम से—जैसा नेपालादि देशों में आज भी प्रचलित है—पुनः सारे देश में प्रचलित होगा अथवा बंग आदि देशों के समान एक वर्ण के अवान्तर भेदों में ही प्रतिबद्ध रहेगा? इन सब प्रश्नों का आखिरी उत्तर देना अत्यन्त कठिन है। देश के विभिन्न प्रान्तों में, यहाँ तक कि, एक ही प्रान्त में भिन्न-भिन्न जातियों

और वंशों के आचारों की घोर विभिन्नता को ध्यान में रखते हुए यह मीमांसा और भी कठिन जान पड़ती है।

* * * *

सभी हितकर सामाजिक परिवर्तन आभ्यन्तरिक आध्यात्मिक शक्तियों की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं और ये शक्तियाँ यदि सबल और ठीक तरह से संयोजित हों, तो समाज तदनुसार अपनी रचना कर लेगा। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी समस्या हल करनी है; इसके अतिरिक्त और कोई दूसरा मार्ग नहीं है। और यही बात राष्ट्रों के लिए भी लागू होती है। फिर, प्रत्येक राष्ट्र का अस्तित्व उसकी महान् संस्थाओं पर ही निर्भर रहता है और इन संस्थाओं का किसी दूसरी जाति के ढाँचे के अनुसार परिवर्तन नहीं हो सकता। जब तक उच्चतर संस्थाओं का निर्माण न हो जाय, पुरानी संस्थाओं को तोड़ने का प्रयत्न हानिकारक होगा। उन्नति सदा क्रमशः तथा शनैः-शनैः होती है।

भारतवर्ष के प्रत्येक सुधार के लिए सबसे पहले धार्मिक उत्थान की आवश्यकता है। भारतवर्ष को सामाजिक या राजनीतिक विचारों से भर देने के पूर्व प्रथमतः उसे आध्यात्मिक भावों में निमग्न करना होगा।

प्रत्येक बात से यही दिख रहा है कि समाजवाद अथवा अन्य कोई प्रकार का लोकशासन, चाहे उसका नाम कुछ भी रखो, सामने आ रहा है। लोग अवश्य ही चाहेंगे कि उनकी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो, परिश्रम कम करना पड़े, किसी प्रकार का अत्याचार न हो, कोई युद्ध न हो और खाने को अधिक अन्न मिले। इसी, या और किसी सभ्यता के स्थायी होने

का क्या भरोसा है, जब तक कि उसका आधार धर्म, मनुष्य का सौजन्य न हो? विश्वास रखो, धर्म ही इस विषय की जड़ तक पहुँचता है। यदि वह ठीक है, तो सब ठीक है।

अतः जाति के प्रश्न को हल करने के लिए हमें किसी उच्च को नीचे गिराना नहीं है, और न खान-पान में यथेष्ट स्वेच्छाचारिता अथवा अधिक सुखोपभोग के लिए अपनी मर्यादा को लाँघने देना ही है; वरन् उसे हल करने के लिए, हममें से प्रत्येक को वेदान्त-धर्म के उपदेशों का पालन करना है, आध्यात्मिकता की प्राप्ति करनी है और आदर्श ब्राह्मण बनना है। हमारे पूर्वजों ने इस देश के प्रत्येक निवासी के लिए नियम निर्धारित कर दिया है, चाहे वह आर्य हो या अनार्य, ऋषि हो या ब्राह्मण, यहाँ तक कि नीचतम जाति का ही क्यों न हो। सबको यही समान आदेश है कि बिना रुके उन्नति करते जाओ, और उच्चतम मनुष्य से लेकर नीचतम परिया * तक, इस देश का प्रत्येक निवासी आदर्श ब्राह्मण बनने का प्रयत्न करे और बने।...जाति सम्बन्धी हमारा आदर्श यही है, जो सभी मनुष्यों को धीरे-धीरे ऊपर उठाते हुए उस आध्यात्मिक पुरुष के उच्च आदर्श का अनुभव कराता है, जो किसी का प्रतीकार नहीं करता और जो शान्त, स्थिर, भक्ति-सम्पन्न, शुद्ध और ध्यानपरायण है। इसी आदर्श में साक्षात् भगवान है।

क्या तुमने यह घोषणा नहीं सुनी है कि ब्राह्मण कानून के अधीन नहीं है, उसके लिए कोई कानून नहीं है, उसका शासन राजा नहीं करता और उसके शरीर को कोई पीड़ित नहीं कर सकता? यह बिलकुल सच है। स्वार्थी और अज्ञानी मूर्ख लोग

* दक्षिण भारत की एक निम्न जाति का नाम।

और वंशों के आचारों की घोर विभिन्नता को ध्यान में रखते हुए यह मीमांसा और भी कठिन जान पड़ती है।

* * * *

सभी हितकर सामाजिक परिवर्तन आभ्यन्तरिक आध्यात्मिक शक्तियों की विभिन्न अभिव्यक्तियां हैं और ये शक्तियां यदि सबल और ठीक तरह से संयोजित हों, तो समाज तदनुसार अपनी रचना कर लेगा। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी समस्या हल करनी है; इसके अतिरिक्त और कोई दूसरा मार्ग नहीं है। और यही बात राष्ट्रों के लिए भी लागू होती है। फिर, प्रत्येक राष्ट्र का अस्तित्व उसकी महान् संस्थाओं पर ही निर्भर रहता है और इन संस्थाओं का किसी दूसरी जाति के ढांचे के अनुसार परिवर्तन नहीं हो सकता। जब तक उच्चतर संस्थाओं का निर्माण न हो जाय, पुरानी संस्थाओं को तोड़ने का प्रयत्न हानिकारक होगा। उन्नति सदा क्रमशः तथा शनैः-शनैः होती है।

भारतवर्ष के प्रत्येक सुधार के लिए सबसे पहले धार्मिक उत्थान की आवश्यकता है। भारतवर्ष को सामाजिक या राजनीतिक विचारों से भर देने के पूर्व प्रथमतः उसे आध्यात्मिक भावों में निमग्न करना होगा।

प्रत्येक बात से यही दिख रहा है कि समाजवाद अथवा अन्य कोई प्रकार का लोकशासन, चाहे उसका नाम कुछ भी रखो, सामने आ रहा है। लोग अवश्य ही चाहेंगे कि उनकी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो, परिश्रम कम करना पड़े, किसी प्रकार का अत्याचार न हो, कोई युद्ध न हो और खाने को अधिक अन्न मिले। इसी, या और किसी सभ्यता के स्थायी होने

का क्या भरोसा है, जब तक कि उसका आधार धर्म, मनुष्य का सौजन्य न हो? विश्वास रखो, धर्म ही इस विषय की जड़ तक पहुँचता है। यदि यह ठीक है, तो सब ठीक है।

अतः जाति के प्रश्न को हल करने के लिए हमें किसी उच्च को नीचे गिराना नहीं है, और न खान-पान में यथेष्ट स्वेच्छाचारिता अथवा अधिक सुखोपभोग के लिए अपनी मर्यादा को लाँघने देना ही है, वरन् उसे हल करने के लिए, हममें से प्रत्येक को वेदान्त-धर्म के उपदेशों का पालन करना है, आध्यात्मिकता की प्राप्ति करनी है और आदर्श ब्राह्मण बनना है। हमारे पूर्वजों ने इस देश के प्रत्येक निवासी के लिए नियम निर्धारित कर दिया है, चाहे वह आर्य हो या अनार्य, ऋषि हो या ब्राह्मण, यहाँ तक कि नीचतम जाति का ही क्यों न हो। सबको यही समान आदेश है कि बिना रुके उन्नति करते जाओ, और उच्चतम मनुष्य से लेकर नीचतम परिया * तक, इस देश का प्रत्येक निवासी आदर्श ब्राह्मण बनने का प्रयत्न करे और बने।...जाति सम्बन्धी हमारा आदर्श यही है, जो सभी मनुष्यों को धीरे-धीरे ऊपर उठाते हुए उस आध्यात्मिक पुरुष के उच्च आदर्श का अनुभव कराता है, जो किसी का प्रतीकार नहीं करता और जो शान्त, स्थिर, भक्ति-सम्पन्न, शुद्ध और ध्यानपरायण है। इसी आदर्श में साक्षात् भगवान है।

क्या तुमने यह घोषणा नहीं सुनी है कि ब्राह्मण कानून के अधीन नहीं है, उसके लिए कोई कानून नहीं है, उसका शासन राजा नहीं करता और उसके शरीर को कोई पीड़ित नहीं कर सकता? यह बिलकुल सच है। स्वार्थी और अज्ञानी मूर्ख लोग

* दक्षिण भारत की एक निम्न जाति का नाम।

इसका जैसा अर्थ करते हैं, उस दृष्टि से इसे मत देखो, वरन् असल और सत्य वैदान्तिक दृष्टि से इसको समझो। यदि ब्राह्मण वह है, जिसने अपनी समस्त स्वार्थपरता नष्ट कर डाली है, जो ज्ञान और प्रेम-प्रसूत शक्ति का सम्पादन और प्रचार करने का कार्य करते हुए जीवन व्यतीत करता है—और यदि किसी देश में केवल ऐसे ही ब्राह्मण, ऐसे धार्मिक, नीतिमान और सदाचारी सज्जन वसते हों, तो उस देश के कानून से परे होने में कोई आश्चर्य की वात है ही क्या? उन पर शासन करने के लिए किस पोलिस या फौज की आवश्यकता है?...वे तो सज्जन और उदार हैं, भगवान के भक्त हैं; और ये ही हमारे आदर्श ब्राह्मण हैं। हम पढ़ते हैं कि सत्ययुग में केवल एक ही जाति थी और वह थी ब्राह्मण। हम महाभारत में पढ़ते हैं—प्रारम्भ में सारे संसार में केवल ब्राह्मण ही वसते थे और जैसे-जैसे उनकी अवनति होती गई, उनकी भिन्न-भिन्न जातियाँ वनती गई; और जब चक्र घूमेगा, तव वे पुनः अपने मूलस्थान ब्राह्मणत्व को प्राप्त होंगे। यह चक्र अब घूम रहा है—इसी वात की ओर मैं तुम्हारा ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ।

जिस दिन उन्होंने (भगवान श्रीरामकृष्ण ने) जन्म लिया, उसी दिन से सत्ययुग का प्रारम्भ हो गया है। अब सब भेद-भाव का अन्त होगा और चाण्डाल तक सभी ईश्वरीय प्रेम के झीदार होंगे। स्त्री और पुरुष, धनी और निर्धन, विद्वान् और ., ब्राह्मण और चाण्डाल—आदि समस्त भेदों को समूल ाने के लिए ही उन्होंने अपना जीवन विताया। और वे थे त के दूत। हिन्दू और मुसलमान, हिन्दू और ईसाई—यह अब अतीत की चीज हो गया है। इन भेद-भावों के झगड़े

अब पिछले युग की बात हो गए हैं। इस सत्ययुग में श्रीरामकृष्ण के प्रेम की महातरग ने सबको एक कर दिया है।

मेरा विश्वास है कि जब एक जाति और एक वेद होगा, जब सर्वत्र शान्ति और एकता स्थापित होगी, तभी सत्ययुग आएगा। सत्ययुग की यह भावना ही भारतवर्ष को पुनरुज्जीवित करेगी। इस पर विश्वास करो।... बच्चो! उठो, भिड़ जाओ इस काम मे! पुरातन हिन्दू धर्म सदैव रहे! उत्तिष्ठ! उत्तिष्ठ! बच्चो, हमारी विजय निश्चित है!

* * * *

क्रमशः देश भर के लोगों को ब्राह्मण के पद पर उन्नत करना है।... मैं कहता हूँ प्रत्येक हिन्दू दूसरे हिन्दू का भाई है और हमी ने अपनी "छुओ मत" "छुओ मत" की पुकार से उनको नीचे गिरा दिया है, और इस प्रकार सारा देश नीचता, कायरता तथा अज्ञान के गहरे गर्त में बिलकुल डूब गया है। उन लोगों का उद्धार करना है, उन्हे आशा और श्रद्धा का सदेश सुनाना है। हमें उनको यह बताना है, "तुम भी हमारे समान ही मनुष्य हो, और तुम्हारे भी वही अधिकार है, जो हमारे हैं।" इस बात को तुम समझ गए न?

भारतवर्ष की उन्नति करनी है—गरीबों को भोजन देना है, शिक्षा का प्रसार करना है और पुरोहिती के दोष को दूर करना है। कोई पुरोहिती छल न रहे, कोई सामाजिक अत्याचार न रहे!... हमारे नासमझ युवक अंग्रेजों से अधिक अधिकार पाने के लिए सभाएँ करते है। पर वे लोग सिर्फ हँसते है। जो स्वतंत्रता देने को तैयार नही है, वह स्वतत्रता पाने लायक भी नहीं है। मान लो, अंग्रेजों ने सभी अधिकार तुम्हें सौंप दिए। तब तो तुम प्रजा

को रखोगे और उन्हें कुछ भी अधिकार न दोगे। गुलाम लोग गुलाम बनाने के लिए ही अधिकार चाहते हैं।

अब, केवल अपने पाँव पर जोर देकर सारे समाज को स्वतंत्रता देकर इस कार्य को धीरे-धीरे सिद्ध करना है। पुराने धर्म से पुरोहितों के छल को उखाड़ फेंको, और इससे तुम्हें संसार में सर्वोत्तम धर्म प्राप्त हो जाएगा। समझ गए न मेरी बात? भारतीय धर्म के आधार पर क्या तुम यूरोप-जैसा समाज बना सकते हो? मुझे विश्वास है कि यह सम्भव है और होना भी चाहिए।

उपनिषद् काल से आज तक हमारे प्रायः सभी धर्माचार्य जाति-बन्धन को, जाति की इस गिरी अवस्था को—मूल जाति-प्रथा को नहीं—तोड़ने के लिए कहते आए हैं। आज की वर्तमान जाति में तुम जो थोड़ी-बहुत अच्छी बात देखते हो, वह मूल जाति-प्रथा से ही आई हुई है। वह प्रथा अत्यन्त गौरवशाली सामाजिक संस्था थी। गौतम बुद्ध ने जाति को उसके असली रूप में पुनः स्थापित करने का प्रयत्न किया। भारतवर्ष के प्रत्येक जागृति-काल में जाति-बन्धन को तोड़ने के सदैव बड़े प्रयत्न किए गए हैं। पर सदैव हम भारतवासियों को ही ऐसे नव-भारत का निर्माण करना पड़ेगा, जो हमारे अतीत का ही फल-स्वरूप और क्रम हो। इसके लिए हमें साथ-ही-साथ उपयोगी विदेशी भावों को भी लेकर—जहाँ कहीं भी वे प्राप्त हों—आत्मसात् करना होगा। यह कार्य विदेशियों-द्वारा कदापि सम्पन्न नहीं हो सकता; विकास भीतर से ही होना चाहिए।

ओह! हमारी गरीबी भयंकर है और हमारे जनसाधारण भौतिक विषयों में अत्यन्त अज्ञानी हैं। हमारे जनसाधारण बहुत

भले हैं, क्योंकि यहाँ गरीबी कोई अपराध नहीं। हमारे जन-साधारण हिंसा-प्रिय नहीं हैं।... हमें उनको लौकिक शिक्षा देनी है। हमें अपने पूर्वजों के निर्धारित क्रम का पालन करना है अर्थात् सभी आदर्शों को क्रमशः जनसाधारण में नीचे तक पहुँचाना है। उन्हें धीरे-धीरे ऊपर उठाओ — अपने साथ समता स्थापित होते तक उन्हें क्रमशः ऊपर चढ़ाओ। धर्म के द्वारा उन्हें भौतिक ज्ञान भी दो।...सभी सामाजिक उत्थान करनेवाले, कम-से-कम उनके नेतागण, यह प्रयत्न कर रहे हैं कि उनके समस्त साम्यवाद या समानता स्थापित करनेवाले सिद्धान्तों का आधार आध्यात्मिक हो, और वह आध्यात्मिक आधार केवल वेदान्त में है। मेरे व्याख्यानों में उपस्थित होनेवाले कई नेताओं ने मुझसे कहा है कि नई रचना के आधार के लिए उन्हें वेदान्त की आवश्यकता है।

गीता में यदि कोई बात मेरे मन के लायक है, तो वह इन्हीं दो श्लोकों में है। भगवान श्रीकृष्ण के उपदेश में यही अत्यन्त शक्तिशाली और सारभूत तत्त्व है :—

> समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
> विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥
> समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
> न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥*

"जो सर्व भूतों में समान रूप से बसनेवाले परमेश्वर को, नाशवान वस्तुओं में उस अविनाशी को देखता है, वही यथार्थ में देखता है। क्योंकि सर्वत्र वर्तमान परमेश्वर को एक समान देखते हुए वह अपनी हिंसा या नाश आप ही नहीं करता और इस तरह परम-गति को प्राप्त हो जाता है।"...

* श्रीमद्भगवद्गीता, १३।२७-२८

मानव-जाति के सुधार और उत्थान के लिए परमात्मा के समान रूप से सर्वत्र वर्तमान होने के आश्चर्यमय भाव का उपदेश यहाँ तथा अन्यत्र करना है। जहाँ भी दोष हो, अज्ञान हो या ज्ञान का अभाव हो — मेरा अनुभव यही रहा है कि सभी दोषों की उत्पत्ति, जैसा कि हमारे शास्त्र कहते हैं, भेद-भाव में विश्वास रखने के कारण होती है; और समानता में, सर्वभूतों के अन्तःस्थित एकत्व में विश्वास करने से सर्वहितों की प्राप्ति होती है। यही महान् वैदान्तिक आदर्श है।

इसके विपरीत, हमारा अनुभव है कि दैनंदिन व्यावहारिक जीवन में इस समता तक पर्याप्त मात्रा में यदि किसी धर्म के अनुयायी कभी पहुँचे हैं, तो वे हैं केवल इस्लाम के अनुयायी — भले ही उन्होंने उसके अन्तःस्थित गूढ़ अर्थ को न समझा हो, जिसे साधारणतः हिन्दू लोग स्पष्ट रूप से समझते हैं।...हमारी मातृभूमि के लिए केवल एक ही आशा है और वह है हिन्दू और इस्लाम धर्मों का — वेदान्ती मस्तिष्क और इस्लामी शरीर का — संयोग।

विचार और कार्य की स्वतंत्रता ही जीवन, उन्नति और हित-साधन का एकमात्र मार्ग है। जहाँ यह स्वतंत्रता नहीं है, वहाँ मनुष्य, जाति और राष्ट्र की अवनति अवश्यम्भावी है। जाति हो या न हो, पंथ हो या न हो, कोई भी मनुष्य, वर्ग या जाति, राष्ट्र . संस्था — जो व्यक्ति के स्वतंत्र विचार और कार्य की शक्ति तव भी अवरोध करती है, यद्यपि वह शक्ति दूसरों को कोई नहीं पहुँचाती — आसुरी ही है, और उसका नाश होना .९ ।...अपने सामने यह सिद्धान्त-वाक्य रखो — "धर्म पर ।त न करते हुए जनसाधारण का उत्थान।" क्या तुम उनका

उत्थान कर सकते हो? क्या तुम उनको उनका खोया हुआ व्यक्तित्व, उनकी स्वाभाविक आध्यात्मिक प्रवृत्ति को नष्ट किए बिना, वापस दे सकते हो? क्या तुम अपनी समानता, स्वतन्त्रता, कर्म और शक्ति की भावना में पाश्चात्यों से बढ़कर पाश्चात्य बन सकते हो, और साथ-ही-साथ धार्मिक संस्कृति और भावनाओं में नस-नस में हिन्दू भी बने रह सकते हो? . . . सदा आगे बढ़ो! "मृत्यु की भी परवाह न करते हुए गरीबों के लिए, पददलितों के लिए सहानुभूति रखना"—यही हमारा सिद्धान्त-वाक्य है। बहादुर बच्चो! आगे बढ़ो!

हिन्दू अपना धर्म न छोड़े, पर उस धर्म को उचित मर्यादा के भीतर रखते हुए समाज को बढ़ने के लिए स्वतंत्रता दे। भारतवर्ष के सभी सुधारकों ने यह बड़ी भूल की कि उन्होंने पुरोहितों के छल की भयंकरता और देश की पतित अवस्था के लिए धर्म को जवाबदार ठहराया। और इसी कारण वे धर्मरूपी अविनाशी भवन को ढहाने के लिए आगे बढ़े। परिणाम क्या हुआ? असफलता! गौतम बुद्ध से लगाकर राजा राममोहन राय तक प्रत्येक ने जाति को धार्मिक संस्था मानने की गलती की और धर्म और जाति को एक साथ नष्ट करने की कोशिश की, पर उसमें वे असफल रहे। किन्तु पुरोहितों की चिल्लाहट और बकझक के होते हुए भी जाति एक सुदृढ़ सामाजिक संस्था बनी हुई है, जो अपना कार्य पूरा करने के पश्चात् आज भारतवर्ष के वातावरण को अपनी दुर्गन्ध से दूषित कर रही है। उसे दूर करने के लिए यही उपाय है कि मनुष्यों को उनका खोया हुआ सामाजिक व्यक्तित्व पुनः लौटा दिया जाय। यहाँ (संयुक्त अमेरिका में) जन्म लेनेवाला प्रत्येक मनुष्य जानता है कि वह मनुष्य है।

मानव-जाति के सुधार और उत्थान के लिए परमात्मा के समान रूप से सर्वत्र वर्तमान होने के आश्चर्यमय भाव का उपदेश यहाँ तथा अन्यत्र करना है। जहाँ भी दोष हो, अज्ञान हो या ज्ञान का अभाव हो—मेरा अनुभव यही रहा है कि सभी दोषों की उत्पत्ति, जैसा कि हमारे शास्त्र कहते हैं, भेद-भाव में विश्वास रखने के कारण होती है; और समानता में, सर्वभूतों के अन्तःस्थित एकत्व में विश्वास करने से सर्वहितों की प्राप्ति होती है। यही महान् वैदान्तिक आदर्श है।

इसके विपरीत, हमारा अनुभव है कि दैनंदिन व्यावहारिक जीवन में इस समता तक पर्याप्त मात्रा में यदि किसी धर्म के अनुयायी कभी पहुँचे हैं, तो वे हैं केवल इस्लाम के अनुयायी—भले ही उन्होंने उसके अन्तःस्थित गूढ़ अर्थ को न समझा हो, जिसे साधारणतः हिन्दू लोग स्पष्ट रूप से समझते हैं।...हमारी मातृभूमि के लिए केवल एक ही आशा है और वह है हिन्दू और इस्लाम धर्मों का—वेदान्ती मस्तिष्क और इस्लामी शरीर का—संयोग।

विचार और कार्य की स्वतंत्रता ही जीवन, उन्नति और हित-साधन का एकमात्र मार्ग है। जहाँ यह स्वतंत्रता नहीं है, वहाँ मनुष्य, जाति और राष्ट्र की अवनति अवश्यम्भावी है। जाति हो या न हो, पंथ हो या न हो, कोई भी मनुष्य, वर्ग या जाति, राष्ट्र या संस्था—जो व्यक्ति के स्वतंत्र विचार और कार्य की शक्ति का तब भी अवरोध करती है, यद्यपि वह शक्ति दूसरों को कोई हानि नहीं पहुँचाती—आसुरी ही है, और उसका नाश होना चाहिए।...अपने सामने यह सिद्धान्त-वाक्य रखो—"धर्म पर आघात न करते हुए जनसाधारण का उत्थान।" क्या तुम उनका

उत्थान कर सकते हो? क्या तुम उनको उनका खोया हुआ व्यक्तित्व, उनकी स्वाभाविक आध्यात्मिक प्रवृत्ति को नष्ट किए बिना, वापस दे सकते हो? क्या तुम अपनी समानता, स्वतन्त्रता, कर्म और शक्ति की भावना में पाश्चात्यों से बढ़कर पाश्चात्य बन सकते हो, और साथ-ही-साथ धार्मिक संस्कृति और भावनाओं में नस-नस में हिन्दू भी बने रह सकते हो? . . . सदा आगे बढ़ो! "मृत्यु की भी परवाह न करते हुए गरीबों के लिए, पददलितो के लिए सहानुभूति रखना"—यही हमारा सिद्धान्त-वाक्य है। बहादुर बच्चो! आगे बढ़ो!

हिन्दू अपना धर्म न छोड़ें, पर उस धर्म को उचित मर्यादा के भीतर रखते हुए समाज को बढ़ने के लिए स्वतन्त्रता दे। भारतवर्ष के सभी सुधारको ने यह बड़ी भूल की कि उन्होंने पुरोहिती के छल की भयंकरता और देश की पतित अवस्था के लिए धर्म को जवाबदार ठहराया। और इसी कारण वे धर्मरूपी अविनाशी भवन को ढहाने के लिए आगे बढे। परिणाम क्या हुआ? असफलता! गौतम बुद्ध से लगाकर राजा राममोहन राय तक प्रत्येक ने जाति को धार्मिक संस्था मानने की गलती की और धर्म और जाति को एक साथ नष्ट करने की कोशिश की, पर उसमें वे असफल रहे। किन्तु पुरोहितो की चिल्लाहट और बकझक के होते हुए भी जाति एक सुदृढ़ सामाजिक संस्था बनी हुई है, जो अपना कार्य पूरा करने के पश्चात् आज भारतवर्ष के वातावरण को अपनी दुर्गन्ध से दूषित कर रही है। उसे दूर करने के लिए यही उपाय है कि मनुष्यों को उनका खोया हुआ सामाजिक व्यक्तित्व पुनः लौटा दिया जाय। यहाँ (संयुक्त जन्म लेनेवाला प्रत्येक मनुष्य जानता है कि वह

भारतवर्ष में जन्म लेनेवाला प्रत्येक मनुष्य यही समझता है कि वह समाज का गुलाम है। अब, स्वतंत्रता ही उन्नति का एकमात्र उपाय है। उसे मिटा दो, तो परिणाम में अवनति ही होगी। आधुनिक प्रतिस्पर्धा के प्रचलित होने से, देखो, जाति का कितना शीघ्र लोप हो रहा है! अब उसे मिटाने के लिए किसी धर्म की आवश्यकता नहीं है। उत्तर भारत में ब्राह्मण जाति के लोग दूकानदारी करते हुए तथा जूते और शराब बनाते हुए अनेक पाए जाते हैं। ऐसा क्यों हुआ? प्रतिस्पर्धा के कारण। वर्तमान राज-शासन में किसी भी मनुष्य को अपनी आजीविका के लिए वह चाहे जो करे, स्वतंत्रता है। उसे कोई मनाई नहीं है। इसका परिणाम प्रबल प्रतिस्पर्धा ही हुआ। और इस प्रकार हजारों मनुष्य नीचे सड़ते हुए पड़े रहने के बजाय अपने लायक उच्चतम स्तर —जिसके लिए ही मानो उन्होंने जन्म लिया हो—खोज लेते हैं और पा जाते हैं।

अंग्रेजी राज-शासनरूपी अस्त्र को ईश्वर ने यहाँ तुम्हारी सुदृढ़ सभ्यता को तोड़ने के लिए लाया है।

* * * *

हम अपने शास्त्रों में दो प्रकार के सत्य पाते हैं। एक तो वह, जो मनुष्य की सनातन प्रकृति पर आधारित है, और जो परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति के सनातन सम्बन्ध के विषय में है। और दूसरा स्थानीय परिस्थितियों, तत्कालीन वातावरण और सामाजिक संस्थाओं आदि से सम्बन्ध रखता है। प्रथम प्रकार का सत्य मुख्यतः हमारे वेदों और शास्त्रों में निहित है और द्वितीय प्रकार का सत्य स्मृतियों, पुराणों आदि में निबद्ध है। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि सभी समय के लिए वेद ही अन्तिम ध्येय और प्रमाण

है, और यदि किसी विषय पर पुराणों का वेदों से मतभेद हो, तो पुराणों के उस भाग को बिना किसी हिचकिचाहट के एकदम अस्वीकृत कर देना होगा।...यह तुम्हारा एक सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्त है कि जब तक मनुष्य इस संसार में विद्यमान है, तब तक इन सनातन सत्यों में कभी परिवर्तन नहीं होगा, क्योंकि ये मानव-प्रकृति पर ही आधारित हैं। ये सर्वकालीन, सर्वव्यापी और सार्वदेशिक सद्गुण हैं। पर स्मृतियाँ स्थानीय परिस्थितियों की, विभिन्न अवस्थाओं के कर्तव्यों की चर्चा करती हैं और उनमें समयानुसार परिवर्तन होता रहता है। तुमको यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि किसी छोटी-मोटी सामाजिक प्रथा में परिवर्तन होने के कारण तुम अपने धर्म से किंचित् भी च्युत नहीं हो जा रहे हो। ध्यान रखो, इन प्रथाओं में तो पहले ही परिवर्तन हो चुका है।... जैसे-जैसे समय बीतता जायगा, अधिकाधिक स्मृतियों का अन्त होता जायगा, ऋषिगण आते जाएँगे, और वे समय की आवश्यकता के अनुसार समाज में परिवर्तन करके उसे अधिक अच्छे मार्गों में ले जाएँगे तथा उचित कर्तव्य-पथ का प्रदर्शन करेंगे। इसके बिना समाज का जीवन असम्भव है।... मुझे धर्मोन्मत्त की तीव्रता और भौतिकवादी का विस्तार दोनों ही साथ-साथ चाहिए। सागर के समान गंभीर और अनन्त आकाश के समान विशाल हृदय हमें चाहिए। हम पृथ्वी के किसी भी देश के समान प्रगतिशील बनें और साथ-ही-साथ अपनी पुरानी संस्कृति के प्रति उसी प्रकार प्रामाणिक और कट्टर बने रहें, जैसा रहना अकेला हिन्दू ही जानता है।

आकस्मिक परिवर्तन सम्भव नहीं है, और शंकराचार्य इसे जानते थे। वैसे ही रामानुजाचार्य भी जानते थे। उनके लिए

केवल एक ही मार्ग था, और वह था तत्कालीन वर्तमान धर्म को उच्चतम आदर्श की ओर धीरे-धीरे उन्नत करना। यदि वे किसी दूसरे उपाय की योजना करने का प्रयत्न करते, तो वे ढोंगी सिद्ध होते; क्योंकि उनके धर्म का मौलिक सिद्धान्त क्रम-विकासवाद ही है।

तुमने भारतीय समाज को क्या कभी एक ही रूप में अवस्थित पाया है? वह तो सदा गतिशील है।...जाति सदा परिवर्तित हो रही है। शास्त्रीय विधियाँ सदा बदल रही हैं, और वैसे ही अनुष्ठान भी। वह सार तत्त्व और सिद्धान्त ही है, जो नहीं बदलता। अपने धर्म की शिक्षा हमें वेदों से ही ग्रहण करनी है। केवल वेदों को छोड़ शेष सब ग्रन्थों में परिवर्तन होना ही चाहिए।...उदाहरणार्थ, कोई एक स्मृति किसी एक काल के लिए प्रभावशाली होती है, तो कोई अन्य स्मृति किसी दूसरे काल के लिए।... जाति को मिटाना नहीं चाहिए, वरन् उसमें कालोपयुक्त परिवर्तन करना चाहिए। पुराने ढाँचे के भीतर और भी दो लाख नए ढाँचे निर्माण करने की जीवनी-शक्ति है। जाति को नष्ट करने की इच्छा निरी मूर्खता है। नई रीति है——पुराने का विकास करना।

तुम क्या भारतवर्ष का इतिहास पढ़ते हो? रामानुज कौन थे? शंकर कौन थे? नानक कौन थे? चैतन्य कौन थे? कबीर कौन थे? दादू कौन थे? एक के बाद एक आनेवाले, उज्ज्वलतम नक्षत्रों के सदृश भारतीय गगन पर उदित होनेवाले ये सब महान् धर्माचार्य कौन थे? क्या रामानुज को नीच जातियों के लिए सहानुभूति नहीं थी? क्या उन्होंने परिया * जाति को भी अपने

* दक्षिण भारत की एक नीच जाति।

समाज मे प्रविष्ट करने के लिए आजीवन प्रयत्न नही किया ? क्या उन्होंने मुसलमानो को भी अपने पथ में लाने की चेष्टा नही की ? क्या नानक ने हिन्दू और मुसलमानो से मेल-जोल करके एक नया वातावरण निर्माण करने का प्रयत्न नही किया ? उन सबो ने प्रयत्न किया और उनका कार्य आज भी चालू है। अन्तर यही है कि आज के सुधारको के समान उनमें आडम्बर नही था। उनके मुँह में वर्तमान सुधारको के समान शाप या निन्दा के शब्द नही थे। वे अपने मुख से केवल आशीर्वाद का ही उच्चारण करते थे। उन्होंने कभी तिरस्कार नही किया। वे लोगो से यही कहते थे कि समाज की उन्नति करनी चाहिए। वे अतीत की ओर देखकर कहते थे—"ऐ हिन्दुओ, तुमने जो किया है, सो अच्छा ही किया है। पर भाइयो, आओ, अब हम उससे भी अधिक अच्छा काम करें।". . . हमें अपनी प्रकृति के अनुसार ही उन्नति करनी है। विदेशी समाजों ने हम पर जो कार्य-प्रणाली लाद रखी है, उसके अनुसार प्रयत्न करना व्यर्थ है, असम्भव है।

* * * *

भारतवर्ष में हमारे मार्ग मे दो बड़े विघ्न हैं—एक है पुरानी धार्मिक कट्टरता और दूसरा है वर्तमान यूरोपीय सभ्यता।

जिस प्रकार हमारे देश में संगठन और बाह्य सभ्यता के सम्बन्ध में पाश्चात्य विचार—चाहे हमें वे पसन्द हों या न हों—प्रचुर मात्रा में प्रविष्ट हो रहे हैं, उसी प्रकार भारतीय आध्यात्मिकता और दर्शन पश्चिमी देशों को प्लावित कर रहे हैं। इसे कोई रोक नही सकता। और न हमी पश्चिम की भौतिक सभ्यता को किसी प्रकार रोक सकते हैं। उसमे से कुछ थोडा ले लेना सम्भवतः हमारे लिए हितकर ही होगा और कुछ आध्यात्मिकता

पाश्चात्यों को भी लाभदायक होगी; इस प्रकार समतोल बना रहेगा। यह नहीं कि हम प्रत्येक बात पश्चिम से सीखें, या वे हरएक बात हमसे सीखें; पर हरएक को, समस्त राष्ट्रों की उस एकता के लिए, उस एक आदर्श संसार के निर्माण के लिए, जो युगों का स्वप्न रहा है, अपने-अपने पास की वस्तु भावी पीढ़ियों को देनी होगी।

आध्यात्मिकता में अमेरिकानिवासी हमसे बहुत पिछड़े हुए हैं, पर उनका समाज हमसे बहुत ही अच्छा है। हम उन्हें अपना अध्यात्म सिखाएँगे और उनके समाज में जो कुछ उत्तम है, उसे हम अपनाएँगे।

हमने सामाजिक विषयों के विकास के लिए स्वतंत्रता नहीं दी है और इसी से हमारा समाज कुण्ठित हो गया है।... भारतवर्ष में हमें समाज के बन्धनों को काटना है, और यूरोप में आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग की बाधाओं को हटाना है।

पश्चिमी देशों में आनुवंशिक जाति सम्बन्धी कोई झंझट नहीं है। उद्योग और परिश्रम के कारण जिन पर भाग्यलक्ष्मी की कृपा है, वे ही देश के नेता और उसके भाग्य के नियंत्रक माने जाते हैं। भारतवर्ष में, तुम केवल अपने उच्च जाति के होने का अभिमान करते रहते हो, और एक दिन ऐसा आता है, जब तुम्हें एक कौर के भी लाले पड़ जाते हैं! तुममें एक सुई बनाने तक की योग्यता तो है नहीं, फिर भी तुम अंग्रेजों की निन्दा करने का साहस करते हो!—कैसी मूर्खता है!

विशालहृदय बनना, संकीर्ण सीमा के बाहर निकलना, अपने में दूसरों को सम्मिलित करना, सार्वजनीन रूप देना—यही हमारे उद्देशों का अन्तिम लक्ष्य है; पर इसके विपरीत हम तो

दिन-पर-दिन अपने को छोटा और अधिक छोटा बनाते जा रहे हैं, शास्त्रों-द्वारा विहित कार्यक्रम के विपरीत अपने को अलग करते जा रहे हैं। .. उस जाति से तुम क्या आशा कर सकते हो, जहाँ शताब्दियों तक ऐसे महत्त्वपूर्ण विषय पर विवाद होता रहा है कि पानी दाहिने हाथ से पीना या बाँये हाथ से? उस देश में इससे और अधिक अवनति क्या हो सकती है, जहाँ महान् विचार-शील सैकड़ों वर्ष तक रसोई के विषय में विवाद कर रहे हैं, जहाँ बहस छिड़ी है कि मैं तुम्हें स्पर्श करूँ या नहीं, तुम मुझे स्पर्श करो या नहीं, और यदि स्पर्श हो गया, तो उसका प्रायश्चित्त क्या हो!

एक ओर तो पुरानी कुसंस्कारयुक्त कट्टरता है, और दूसरी ओर है भौतिकता, यूरोपीयता, अनात्मभाव, तथाकथित सुधार, जो पाश्चात्य उन्नति की नींव तक घुस गए हैं। इन दो चट्टानों के बीच हमें अपना मार्ग ढूँढ़ निकालना है। इन दोनों से हमें सावधान रहना है। प्रथम तो, हम पाश्चात्य नहीं बन सकते; अतः पाश्चात्यों की नकल करना व्यर्थ है।...दूसरी बात, यह असम्भव भी है।.. क्या तुम यह समझते हो कि बीसों शताब्दियों की तेजोमयी संस्कृति को दूर फेंक देना सम्भव है? ऐसा हो नहीं सकता। हमें यह भी सदा स्मरण रखना चाहिए कि प्रत्येक छोटे ग्रामीण देवता में और प्रत्येक अंधविश्वासयुक्त रूढ़ि में वह बात समाई हुई है, जिसे हम धार्मिक श्रद्धा के नाम से पुकारते आए हैं। पर स्थानीय रूढ़ियाँ तो अनन्त हैं और परस्पर विरोधी भी होती हैं। तब प्रश्न उठता है, हम किसे मानें और किसे न मानें? उदाहरण के लिए, दक्षिण भारत का ब्राह्मण किसी दूसरे ब्राह्मण को मांस-भक्षण करते देखकर घबरा उठेगा; पर

[illegible] होगा [illegible] है।

सीलोन में जाति के प्रतिबन्ध भारतवर्ष की अपेक्षा बहुत कम हैं; लोगों में विवाह सम्बन्धी कुछ प्रतिबंध हैं, पर खान-पान में कुछ भी नहीं, जिसमें कि हिन्दू लोग कुछ प्रतिबंध रखते हैं।...सारी हिन्दू जातियाँ एक में मिलकर एक ही हिन्दू जाति बन गई हैं, जिसमें पंजाबी जाट के समान एक पुरुष किसी भी जाति की लड़की से—और-तो-और, यूरोपियन लड़की से भी—विवाह कर सकता है। लड़का मन्दिर में जाकर अपने माथे पर पवित्र त्रिपुण्ड चिह्न धारण करके 'शिव' 'शिव' जपने से हिन्दू बन जाता है। इस प्रकार पति हिन्दू, परन्तु पत्नी ईसाई हो सकती है। ईसाई अपने मस्तक पर पवित्र भस्म मलकर "नमः पार्वती-पतये" कहकर एकदम हिन्दू बन जाता है।

सारे भारतवर्ष में अनेकों रूढ़ियाँ हैं; पर वे स्थानीय हैं। सबसे बड़ी गलती अनजान लोग यही करते हैं कि इस स्थानीय रूढ़ि को ही वे अपने धर्म की सार वस्तु समझते हैं।

* * * *

यद्यपि दिखने में हमारी जातियाँ और संस्थाएँ हमारे धर्म से जुड़ी हुई प्रतीत होती हैं, पर वास्तव में वे ऐसी नहीं हैं।

जाति-प्रथा तो वेदान्त-धर्म के विरुद्ध है। जाति एक सामाजिक रुढ़ि है और हमारे सभी महान् आचार्य उसे तोड़ने का यत्न करते आए हैं। बौद्ध धर्म से लगाकर सभी पंथों ने जाति के

विरुद्ध प्रचार किया है, किन्तु प्रत्येक समय वह शृंखला दृढ़ ही होती रही। जाति तो केवल भारतवर्ष की राजनीतिक संस्थाओं से निकली हुई है; वह एक परम्परागत व्यावसायिक संस्था है। किसी उपदेश की अपेक्षा यूरोप के साथ व्यावसायिक प्रतिस्पर्धा ने जाति-बंधन को अधिक तोड़ा है।

धर्म में कोई जाति नहीं होती; जाति तो केवल एक सामाजिक रूढ़ि है।

लिंग, जाति, धन, विद्या और इसी प्रकार के अन्य सभी भेद, जो नरक के द्वार हैं, इस संसार तक ही आबद्ध रहें।... जो गिरजाघर में भी यही सोचते हैं कि अमुक स्त्री वेश्या है, अमुक पुरुष नीच जाति का है, अमुक दरिद्र है, अमुक तो जन-साधारण में का है, आदि-आदि––ऐसे सोचनेवालों की संख्या जितनी ही कम हो, उतना ही बेहतर है। क्या भक्तों की जाति, लिंग, व्यवसाय आदि को देखनेवाले ये लोग हमारे भगवान का मान करेंगे?

कोई भी व्यक्ति, चाहे वह शूद्र हो या चाण्डाल, ब्राह्मण को भी तत्त्वज्ञान की शिक्षा दे सकता है। सत्य की शिक्षा अत्यन्त नीच व्यक्ति से भी ली जा सकती है––वह व्यक्ति किसी भी जाति या पंथ का क्यों न हो।

हमारे अधिकांश उपनिषद् क्षत्रियों के लिखे हुए हैं।... भारतवर्ष में हमारे महान् आचार्य अधिकतर क्षत्रिय ही थे और उनके उपदेश सदा सार्वभौमिक रहे हैं।... राम, कृष्ण, बुद्ध––जिनकी पूजा अवतार मानकर की जाती है––ये सब क्षत्रिय ही थे।

हिन्दू धर्म के दो विभाग हैं—कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। ज्ञानकाण्ड का अध्ययन विशेषतः संन्यासी लोग करते हैं। उनमें कोई जाति नहीं है। उच्चतम जातिवाले और नीचतम जाति-वाले दोनों ही संन्यासी हो सकते हैं और दोनों जातियाँ एक-सी बन जाती हैं।

यह बात तो माननी होगी कि कानून, शासन, राजनीति ये जीवन के विभिन्न पहलू हैं, ये किसी प्रकार अन्तिम लक्ष्य नहीं हैं। उनसे परे ऐसा लक्ष्य है, जहाँ कानून की आवश्यकता नहीं है। और यह भी जान लो, 'संन्यासी' शब्द का अर्थ ही है कानून से बाहर—विधिनिषेधातीत—ईश्वरीय विभूति; उसे कोई ईश्वरीय शून्यवादी भी कह सकता है; परन्तु इस शब्द का उप-योग करने से एक गलत-सी भावना उत्पन्न हुआ करती है।

बुद्ध-अवतार में भगवान कहते हैं कि आधिभौतिक दुःख का मूल यह जाति-भेद ही है। या दूसरे शब्दों में यों कहिए कि प्रत्येक प्रकार का वर्ग-भेद ही, उसका आधार चाहे जन्म हो या विद्या या धन, इस दुःख के मूल में है। आत्मा में लिंग, वर्ण, आश्रम या उस प्रकार का और कोई भेद नहीं है। जैसे कीच से कीच को नहीं धो सकते, उसी प्रकार विभाजक भावों या विचारों के द्वारा एकत्व को प्राप्त होना असम्भव है।

मुझसे पूछो, तो मैं तो इस जातिविषयक प्रश्न में किसी पक्ष का नहीं हूँ; क्योंकि मैं जानता हूँ यह सामाजिक नियम है और गुण-कर्म-भेद ही इसका आधार है। जो गुण और कर्म से परे जाने को कटिबद्ध है, उसके मन में यदि किसी प्रकार के जाति-भेद की भावना है, तो उसके लिए वह अत्यन्त हानिकारक होगी।

मेरे मन में यह धारणा प्रतिदिन दृढ़ होती जा रही है कि जाति का विचार सबसे बड़ा भेद पैदा करनेवाला और माया की जड़ है। समस्त जाति-भेद, चाहे वह जन्मगत हो या गुणगत, बन्धन हैं। कई मित्र सलाह देते हैं, "सच है; पर इस बात को अन्दर ही रखो, बाहर सापेक्ष जगत् में तो जाति-भेद आदि बनाए रखना आवश्यक है।" . . . कायर, दुर्बल प्रयत्न के द्वारा जैसे-तैसे एकत्व की भावना तो मन में रखी हुई हैं, पर बाहर निर्दयता और अत्याचार का नारकीय नृत्य हो रहा है,—ऐ गरीबों का खून चूसनेवाले, यदि कहीं परिया अच्छा धनी हुआ, तब तो अवश्य कह उठोगे, "ओह! वह तो धर्म का रक्षक है!"

इन बातों के अतिरिक्त, मैंने अपने अध्ययन में यह भी पाया है कि धर्म के अनुशासन या विधि-निषेध शूद्रों के लिए नहीं हैं। यदि वह खान-पान या विदेश-यात्रा के बारे में उचित-अनुचित का विचार करे, तो उसके लिए वह सब निरर्थक हैं, उतना सोचने का परिश्रम व्यर्थ हुआ। मैं शूद्र हूँ, म्लेच्छ हूँ, अतः इन सब झंझटों से मुझे कोई प्रयोजन नहीं। मेरे लिए तो म्लेच्छ का अन्न और परिया का अन्न दोनों बराबर हैं। जाति इत्यादि विषयक पागलपन तो पुरोहितों की लिखी हुई पुस्तकों में है। ये बातें ईश्वर-निःश्वसित ग्रन्थों में नहीं हैं। पुरोहित लोग अपने पूर्वजों की कमाई का फल भोगें और मैं तो ईश्वर के आदेशों का पालन करूँगा; क्योंकि मेरी भलाई उसी में है।

प्रभु ने मुझे दिखा दिया है कि धर्म का कोई दोष नहीं है, वरन् दोष उनका है, जो ढोंगी और दम्भी हैं, जो पारमार्थिक और व्यावहारिक सिद्धान्तों के रूप में अनेक प्रकार के अत्याचार के अस्त्र निर्माण करते हैं।... पृथ्वी पर ऐसा कोई धर्म नहीं है, जो

हिन्दू धर्म के समान इतने उच्च स्वर से मानवता के गौरव का उपदेश करता हो, और पृथ्वी पर ऐसा कोई धर्म नहीं है, जो हिन्दू धर्म के समान गरीबों और निम्नजातिवालों का गला ऐसी क्रूरता से घोटता हो।

समाज-सुधारकों के मुखपत्र में मैंने पढ़ा कि वे मुझे शूद्र कहते हैं और मुझे ललकारकर पूछते हैं कि शूद्र को संन्यासी होने का क्या अधिकार है। मेरा उत्तर यही है कि मेरी उत्पत्ति उस पुरुष से है, जिसके चरणों पर प्रत्येक ब्राह्मण "यमाय धर्मराजाय चित्रगुप्ताय वै नमः" कहता हुआ पुष्पांजलि समर्पण करता है और जिसके वंशज अतिशुद्ध क्षत्रिय हैं।... यह तो केवल एक बात मैंने कह दी। मैंने तो इसका केवल उल्लेख मात्र किया है। यदि वे मुझे शूद्र कहते हैं, तो इसका मुझे जरा भी रंज नहीं। गरीबों पर मेरे पूर्वजों ने जो अत्याचार किए हैं, उनका इससे कुछ प्रतीकार ही हो जायगा। यदि मैं परिया होऊँ, तो मुझे और भी अधिक खुशी है; क्योंकि मैं उस पुरुष का शिष्य हूँ, जिन्होंने, आदर्श ब्राह्मण होते हुए भी, परिया का घर झाड़ना चाहा। परिया ने अवश्य उन्हें ऐसा करने नहीं दिया।... इस पर ये महापुरुष आधी रात को उठकर उसके घर में चुपके से घुस गए, उसका संडास साफ किया और अपने लम्बे-लम्बे केशों से उस स्थान को पोंछ डाला।... मैं तो उसी महापुरुष का पदानुसरण करूँगा।... किंचित् आचरण भी बड़ी-बड़ी कोरी बातों के ढेर से अधिक मूल्यवान होता है।

२

पुरोहित और अधिकार

पुरोहितों का विश्वास है कि ईश्वर है; पर उसके पास पहुँचना और उसको जानना केवल उन्ही के द्वारा हो सकता है। लोग उस पवित्रतम के पास केवल पुरोहित की अनुमति से ही प्रवेश पा सकते है। तुम उन्हें धन दो, उनकी पूजा करो और सभी बातें उनके हाथों में दे दो। ससार के इतिहास मे यह पुरोहिती प्रवृत्ति वारम्बार प्रकट होती रही है—यह भयानक अधिकार-लिप्सा, यह व्याघ्रवत् तृष्णा मानव-प्रकृति के एक अंग के समान दिखाई देती है। पुरोहित लोग तुम पर हुकूमत चलाते है और तुम्हारे लिए हजारो नियम बनाते हैं। सरल सत्यों को अनेक प्रकार से घुमा-फिराकर बताते है। वे अपनी श्रेष्ठता का समर्थन करनेवाली कथाएँ तुम्हें सुनाते है।...

भारतवर्ष के पुरोहितों—ब्राह्मणों—को महान् बौद्धिक और मानसिक शक्ति प्राप्त थी। भारतवर्ष की आध्यात्मिक उन्नति का प्रारम्भ करनेवाले वे ही थे, और उन्होंने आश्चर्यजनक कार्य भी सम्पन्न किए। पर धीरे-धीरे ऐसा समय भी आया, जब उन्नति की वह स्वतंत्र भावना, जिससे वे प्रथम प्रेरित एवं परिचालित हुए थे, नष्ट हो गई। वे अपने लिए प्रभुता और अधिकार बटोरने में लग गए। यदि ब्राह्मण ने किसी मनुष्य को मार भी डाला, तो उसे दण्ड नही होता था। ब्राह्मण जन्म से ही विश्व का स्वामी है! दुष्ट-से-दुष्ट ब्राह्मण की भी पूजा होनी ही चाहिए!

भारतवर्ष में, सामाजिक जीवन के प्रत्येक अन्य व्यवसाय के समान, पुरोहिती भी एक आनुवंशिक परम्परागत व्यवसाय है। पुरोहित का लड़का पुरोहित होगा, जैसे बढ़ई का लड़का बढ़ई, या लोहार का लड़का लोहार।

पुराने मतवाले हिन्दू अत्यन्त आत्मसीमित वृत्तिवाले होते हैं, वे अपने ही निजी विचार और भावना की चहारदीवारी के भीतर रहा करते हैं। उनकी जीवनचर्या हमारे पुराने ग्रंथों में बहुत बारीकी के साथ दी गई है और सूक्ष्म-से-सूक्ष्म बातों को भी वे लोग वज्र के समान दृढ़ता से पकड़े रहते हैं।... जितनी ऊँची जाति होगी, उतने ही कड़े प्रतिबंध होंगे। अति नीच जातिवाले अपनी इच्छा के अनुसार कुछ भी खा-पी सकते हैं। पर जैसे-जैसे मनुष्य सामाजिक श्रेणी में ऊपर चढ़ता जाता है, वैसे-वैसे अधिक कड़े प्रतिबंध लगते जाते हैं। और जब वह उच्चतम ब्राह्मण जाति — भारतवर्ष की परम्परागत पुरोहितों की जाति — में पहुँचता है, तब तो उसका जीवन... अत्यधिक सीमाबद्ध हो जाता है।

जब कोई समुदाय उन्नत दशा को प्राप्त हो जाता है, तब स्वभावतः वह अपने अधिकारों को सुरक्षित रखने का प्रयत्न
है। अतः, उच्च जातिवालों ने और विशेषतः ब्राह्मणों ने,
ी उन्हें राजा की सहायता प्राप्त हो सकी, तभी निम्नतर
की इस इच्छा को कि उन्हें भी ब्राह्मणों के समान
प्राप्त हो जायँ, दबाने की चेष्टा की और यदि हो सका
र के बल पर भी। पर प्रश्न यह है कि क्या वे सफल
अपने पुराणों और उप-पुराणों को बारीकी के साथ देखो,
: वृहत् पुराणों के खंडों को, फिर अपने चारों ओर देखो

कि तुम्हारी आँखों के सामने क्या हो रहा है। बस, तुम्हें उत्तर मिल जायगा।

* * * *

पुरोहिती प्रभुता की नींव बौद्धिक शक्ति पर है, न कि शस्त्रों की भौतिक शक्ति पर। अतः पुरोहितों प्रभुता का आधिपत्य होने पर बौद्धिक और साहित्यिक संस्कृति का अधिक प्रसार होता है।... *पुरोहित देवताओं को जानता है और उनसे सम्बन्ध* स्थापित करता है। इसी कारण देवताओं के समान उसकी पूजा होती है। सांसारिक विचारों को त्यागने के कारण उसे अपनी जीविका का उपार्जन शारीरिक परिश्रम-द्वारा नहीं करना पड़ता।...सार्वजनिक हित और कल्याण के अंकुर को अपनी आध्यात्मिक शक्ति से, ज्ञान और विद्या के प्रति अपने प्रेम तथा त्याग-वैराग्य से, जो कि उसके जीवन का मूल मंत्र है, वह बढ़ाता है; इतना ही नहीं, वह स्वयं अपने जीवन-शोणित से उस अंकुर को सींचता है।... इसी कारण हमारे लिए उसकी स्मृति भी पवित्र है!...

पर उसमें दोष भी हैं।...पुरोहित स्वभावतः अपने मन में कहता है—"अपनी उस प्रभुत्व-शक्ति को, जिससे देवता मेरे अधीन हो गए हैं, जिससे भौतिक एवं मानसिक रोगों पर मुझे आधिपत्य प्राप्त हो गया है और जिसके कारण मैं भूत-प्रेत, राक्षस और अन्य अदृश्य शक्तियों से काम ले सकता हूँ, भला मैं क्यों छोड़ूँ? महान् त्यागरूपी महँगा मूल्य देकर ही मैंने इस प्रभुत्व-शक्ति को पाया है। जिसको पाने के लिए मुझे धन, नाम, कीर्ति, या यों कहिए अपने सर्व भौतिक भोग-विलास तथा सुखों को त्यागना पड़ा, उसे मैं दूसरे को क्यों दे दूँ?" फिर, वह शक्ति

तो केवल मानसिक है। और उसको पूर्णतः गुप्त रखने के लिए भी कितने अवसर हैं! परिस्थिति के चक्र में उलझे हुए मनुष्य का स्वभाव वैसा ही बन जाता है, जैसा बनना उस परिस्थिति में उसके लिए अनिवार्य है। प्रत्येक बात को गुप्त रखने का सतत अभ्यास करते रहने के कारण मनुष्य चरम स्वार्थ और ढोंग का शिकार बन जाता है और अन्त में उन निकृष्ट परिणामों के वशीभूत हो जाता है, जो इसी सिलसिले में उत्पन्न होते हैं। कालान्तर में, इस गुप्त रखने की इच्छा का अनिष्ट परिणाम उसी पर होता है। सम्पूर्ण ज्ञान और सारी विद्या समुचित उपयोग और प्रचार के अभाव में नष्ट हो जाती है, और जो कुछ थोड़ा-बहुत बच रहता है, वह भी किसी अलौकिक उपाय से प्राप्त समझा जाता है। इसी लिए मौलिक तत्त्वों के अनुसन्धान का प्रयत्न करना तथा नए विज्ञान-शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करना तो दूर रहा, पुराने में से बचे-खुचे को, उसके दोषों को दूर करके सुधारने का प्रयास भी व्यर्थ समझा जाता है। फिर तो, पहले के ज्ञान एवं दुर्दम्य आत्मविश्वास को गँवाकर पुरोहित केवल अपने पूर्वजों के नाम से अपना गौरव दिखाता हुआ, अपने लिए अपने पुरखों के उसी गौरव, उसी अधिकार, उसी सम्मान और उसी सत्ता को निष्कलंक रूप से बचाए रखने का ही प्रयास करता रहता है। इसका परिणाम होता है अन्य जातियों के साथ उसका घोर संघर्ष।...

लक्ष्य को भुलाकर, उद्देशहीन भटकती हुई पुरोहिती शक्ति मकड़ी के समान अपने ही फैलाए हुए जाले में फँस गई है। पीढ़ी-दर-पीढ़ी जो शृंखला बड़ी सावधानी से दूसरों के पैरों को बाँधने के लिए गढ़ी गई थी, वह अब उन्हीं के पैरों को सहस्रगुना जकड़ रही है और उनकी ही गति का सैकड़ों प्रकार से अवरोध कर

नही बनाता? क्या तुम समझते हो, हमारा धर्म 'धर्म' कहलाने लायक है? हमारा धर्म तो केवल 'छुओ मत!' मे है—"मुझे मत छुओ," "मुझे मत छुओ।" हा भगवन्! जिस देश के बड़े-बड़े नेता गत दो हजार वर्ष से केवल यही विवाद करते आए हैं कि भोजन दाहिने हाथ से किया जाय या बाँये हाथ से, पानी दाहिनी ओर से उठाकर पिएँ या बाईं ओर से,...यदि ऐसे देश का विनाश न हो, तो फिर किसका हो? जिस देश मे लाखों मनुष्य महुआ के फूल से पेट भरते है, जहाँ दस-बीस लाख साधु और दस-एक करोड़ ब्राह्मण इन गरीबों का रक्त चूसते हैं, पर उनके सुधार का रत्ती भर भी प्रयास नही करते, वह कोई देश है या नरक? वह धर्म है या शैतान का नग्न नृत्य? भाई! मै सारा भारतवर्ष घूम चुका हूँ और इस देश (संयुक्त अमेरिका) को भी मैंने देखा है। तुम्हारे लिए यह एक अच्छी तरह से समझने की बात है कि कारण के बिना क्या कोई कार्य हो सकता है, पाप किए बिना क्या दण्ड मिल सकता है?

इतनी शताब्दियों तक दृढ कुसंस्कारों का नित्य बढ़ता हुआ बोझ अपने सिरों पर लादे हुए, सैकड़ों वर्ष तक अपनी सम्पूर्ण शक्ति केवल भोजन आदि की स्पृश्यता-अस्पृश्यता की बहस में ही व्यय करते हुए, युगो के सतत सामाजिक अत्याचार के कारण जिसकी सारी मानवता निचोड़ ली गई है, ऐसे तुम क्या हो? ... आओ, मनुष्य बनो! उन्नति के सदा विरोधी पुरोहितों को धक्का देकर दूर हटा दो, क्योंकि वे कभी सुधरेंगे नहीं। उनके हृदय कभी उदार नहीं होगे। वे तो शताब्दियों के कुसंस्कार और अत्याचार से उत्पन्न हुए हैं। पहले पुरोहिती छल को जड़ से उखाड़ फेंको। आओ, मनुष्य बनो! अपने संकीर्ण बिलों में से

द्वारा, प्रार्थना के साथ, अपने सिर पर एक प्याला पानी डलवाकर ईसाई बन जाता है और अपने शरीर पर एक कोट—चाहे उसके धागे-धागे ही क्यों न हो गए हों—डाल लेता है, और फिर जब वह कट्टर से कट्टर हिन्दू के कमरे में जाता है, तब तो मुझे ऐसा कोई दिखाई नहीं देता, जो उसे कुरसी न दे और दिल खोलकर हाथ न मिलाए! इससे अधिक विडम्बना और क्या हो सकती है! आओ, देखो, यहाँ दक्षिण भारत में वे पादरी लोग क्या कर रहे हैं। नीच जातियों में से लाखों को वे ईसाई बना रहे हैं; और त्रावणकोर में, जहाँ पुरोहितों की प्रबलता भारतवर्ष में सबसे अधिक है, जहाँ भूमि का प्रत्येक टुकड़ा ब्राह्मणों के हाथ में है,... लगभग एक-चौथाई लोग ईसाई हो गए हैं! और मैं उनको दोष नहीं देता, वे और कर ही क्या सकते हैं? कब, प्रभो! कब मनुष्य मनुष्य को भाई मानेगा?

* * * *

पुरोहिती स्वभावत निर्दय और हृदयहीन चीज है। इसी लिए ज्योंही पुरोहिती शुरू हुई कि धर्म की अवनति होने लगती है। वेदान्त कहता है, हमे अधिकार का विचार त्याग देना चाहिए, तभी धर्म का उदय होगा। उसके बिना तो धर्म केवल नाममात्र है।

वेदान्त ही एक निर्भीक धर्मप्रणाली रहा है (और अब भी है)। वह कहीं रुका नहीं और उसमें यह एक लाभ था कि उसमें कोई पुरोहित-वर्ग नहीं था, जो सत्य का प्रचार करनेवाले मनुष्य को दबाने की चेष्टा करता। उसमें पूर्ण रीति से धार्मिक स्वतंत्रता थी। भारतवर्ष में कुसंस्कार का बन्धन केवल सामाजिक है।

वाहर निकलो और आँखें खोलकर देखो। देखो, अन्य सब देश कैसे आगे बढ़ रहे हैं! . . . मतिभ्रष्ट लोगो, बाहर निकलने से तो तुम्हारी जाति चली जाती है!

हमें यात्रा करनी चाहिए, विदेशों को जाना चाहिए। यदि हमें सचमुच पुनः एक देश या राष्ट्र वनना है, तो यह देखना चाहिए कि दूसरे देशों में समाज-यंत्र किस प्रकार चल रहा है। दूसरे राष्ट्रों की विचार-धाराओं के साथ हमें मुक्त और खुले दिल होकर सम्बन्ध रखना चाहिए। और सवसे वड़ी वात तो यह है कि हमें अत्याचार बंद कर देना चाहिए।

हाय अत्याचारियो! तुम जानते नहीं कि अत्याचार और गुलामी मानो एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। गुलाम और अत्याचारी समानार्थक हैं।

अल्पसंख्यकों का अत्याचार संसार में सबसे बुरा होता है।

नीचतम जाति का व्यक्ति उच्च जातिवालों के युगों के सतत अत्याचार के कारण और पग-पग पर घूँसों और लातों के प्रहार से अपनी मनुष्यता पूर्णतः खो बैठा है और भिखारी वन गया है।

भंगी और परिया लोगों को उनकी वर्तमान हीन दशा में किसने पहुँचाया? इधर तो हमारे व्यवहार में हृदयहीनता है और उधर साथ ही हम आश्चर्यमय अद्वैतवाद का उपदेश दे रहे हैं—क्या यह जले पर नमक छिड़कना नहीं है?

विचार करो, हम कैसी हास्यास्पद अवस्था में पहुँच गए हैं! अगर कोई भंगी भंगी की तरह किसी के पास आए, तो वह उससे ऐसा दूर भागता है मानो प्लेग से। पर ज्योंही वह पादरी-

द्वारा, प्रार्थना के साथ, अपने सिर पर एक प्याला पानी डलवाकर ईसाई बन जाता है और अपने शरीर पर एक कोट — चाहे उसके धागे-धागे ही क्यों न हो गए हों — डाल लेता है, और फिर जब वह कट्टर से कट्टर हिन्दू के कमरे में जाता है, तब तो मुझे ऐसा कोई दिखाई नहीं देता, जो उसे कुरसी न दे और दिल खोलकर हाथ न मिलाए! इससे अधिक विडम्बना और क्या हो सकती है! आओ, देखो, यहाँ दक्षिण भारत में वे पादरी लोग क्या कर रहे हैं। नीच जातियों में से लाखों को वे ईसाई बना रहे हैं; और त्रावणकोर में, जहाँ पुरोहितों की प्रबलता भारतवर्ष में सबसे अधिक है, जहाँ भूमि का प्रत्येक टुकड़ा ब्राह्मणों के हाथ में है,... लगभग एक-चौथाई लोग ईसाई हो गए हैं! और मैं उनको दोष नहीं देता, वे और कर ही क्या सकते हैं? कब, प्रभो! कब मनुष्य मनुष्य को भाई मानेगा?

* * * *

पुरोहिती स्वभावत निर्दय और हृदयहीन चीज है। इसीलिए ज्योंही पुरोहिती शुरू हुई कि धर्म की अवनति होने लगती है। वेदान्त कहता है, हमें अधिकार का विचार त्याग देना चाहिए, तभी धर्म का उदय होगा। उसके बिना तो धर्म केवल नाममात्र है।

वेदान्त ही एक निर्भीक धर्मप्रणाली रहा है (और अब भी है)। वह कहीं रुका नहीं और उसमें यह एक लाभ था कि उसमें कोई पुरोहित-वर्ग नहीं था, जो सत्य का प्रचार करनेवाले मनुष्य को दबाने की चेष्टा करता। उसमें पूर्ण रीति से धार्मिक स्वतंत्रता थी। भारतवर्ष में कुसंस्कार का बन्धन केवल सामाजिक है।

अधिकार की भावना मानव-जीवन के लिए हानिकारक है। दो शक्तियाँ मानो सतत कार्य कर रही हैं—एक तो जाति बना रही है और दूसरी अधिकारों को नष्ट कर रही है। और जब कभी अधिकार का नाश होता है, तो उस मानववंश की अधिकाधिक उन्नति होती है, उसमें अधिकाधिक ज्ञानालोक आता है।...वेदान्ती होना और साथ ही किसी के लिए किसी प्रकार का भौतिक, मानसिक या आध्यात्मिक अधिकार स्वीकार करना असम्भव है। वेदान्त में किसी के लिए किसी भी प्रकार के अधिकार का स्थान नहीं है। प्रत्येक मनुष्य में एक ही शक्ति है—किसी में अधिक प्रकट हुई है, किसी में कम; वही सामर्थ्य सबमें है।...वेदान्त के अनुसार, जन्मगत उच्च-नीच-भेद का कोई अर्थ नहीं।

जाति स्वभाव पर आधारित एक संस्था है। मैं सामाजिक जीवन में एक काम कर सकता हूँ, तो तुम एक दूसरा—तुम एक देश पर शासन कर सकते हो, तो मैं पुराने जूते मरम्मत कर सकता हूँ; पर यह कोई कारण नहीं कि तुम मुझसे बड़े हो; क्योंकि क्या तुम मेरे जूते मरम्मत कर सकते हो? और क्या देश का शासन मैं कर सकता हूँ? मैं जूते सुधारने में चतुर हूँ, तो तुम वेद पढ़ने में चतुर हो, पर यह कोई कारण नहीं कि तुम मेरे सिर को अपने पैरों से कुचलो। यदि कोई हत्या करे, तो उसकी प्रशंसा क्यों की जाय और यदि कोई सिर्फ एक सेब चुराए, तो उसे फाँसी क्यों दी जाय? इस सबका अन्त होना ही चाहिए। जाति अच्छी है। जीवन-क्रम को निभाने का यही एक स्वाभाविक मार्ग है। मनुष्य अपना-अपना समूह बनाता ही है, तुम इससे छुटकारा नहीं पा सकते। कहीं भी जाओ, तुम जाति देखोगे ही। पर उसका यह

अर्थ नहीं कि साथ ही अधिकार भी चिपके रहें। इन अधिकारों को नष्ट कर देना चाहिए।...अपने को विभिन्न समूहों में विभक्त करना तो समाज का स्वभाव ही है; पर हम जिन्हें नष्ट करना चाहते हैं, वे हैं ये अधिकार!.. यदि तुम ढीमर को वेदान्त पढ़ा दो, तो वह यही कहेगा, "तुम जिस प्रकार एक मनुष्य हो, वैसा ही मैं भी हूँ; मैं ढीमर हूँ, तो तुम तत्त्वज्ञानी हो; परन्तु वही ईश्वर मुझमें है, जो तुममें है।" और यही तो हम चाहते हैं—किसी के लिए कोई अधिकार न रहे, सबको एक समान अवसर प्राप्त हों। प्रत्येक व्यक्ति को यही सिखाओ कि ईश्वर तुम्हारे भीतर है; और तब हर एक अपनी मुक्ति का प्रयत्न आप ही करेगा।

इस प्रकार प्रत्येक अधिकार को और हममें स्थित उस भावना को, जो हमें अधिकारों को हथियाने के लिए उसकाती है, कुचलकर हमें उस ज्ञान की प्राप्ति के लिए चेष्टा करनी चाहिए, जिस ज्ञान से हममें समस्त मानव-जाति के प्रति एकत्व की भावना उत्पन्न हो सके।

* * * *

सम्पूर्ण प्रकृति में दो शक्तियाँ कार्य करती हुई दिखाई देती हैं—इनमें से एक सतत भेद-भाव पैदा करती रहती है और दूसरी सतत एकता स्थापित करती रहती है। पहली, व्यक्तियों में अधिकाधिक पृथकत्व पैदा करती है और दूसरी, मानो अलग-अलग व्यक्तियों को एक साधारण समूह में लाती है तथा इन सब भेदों के बीच से समानता को प्रकट करती है।... ऐसा कहा जाता है कि भौतिक शरीरों तथा सामाजिक विभागों में यदि बिलकुल एक-समानता आ जाय, तो उनकी मृत्यु अनिवार्य

यह है केवल अधिकारों को दूर करना। यथार्थ में यही कार्य सारे संसार के सामने है। सभी सामाजिक जीवनो में, प्रत्येक जाति और प्रत्येक देश में यही एक संघर्ष चल रहा है। यह कोई सोचने की बात नहीं है कि मनुष्य का एक दल स्वभावत: दूसरे से अधिक बुद्धिमान है; पर प्रश्न तो यह है कि क्या मनुष्य का यह दल, अधिक बुद्धि उपलब्ध रहने के कारण, दूसरे कम बुद्धिवालों से उनका भौतिक सुखोपभोग भी अपहरण कर ले? संघर्ष उस अधिकार को नष्ट करने के लिए है।... यदि कुछ मनुष्य अपनी विशिष्ट योग्यता-द्वारा दूसरो की अपेक्षा अधिक धन इकट्ठा करते हों, तो यह तो स्वाभाविक है; पर धन कमाने की इस शक्ति के कारण वे अत्याचार करें और दूसरे जो इतना धन नही प्राप्त कर सकते उनको बेतरह रौंदे, यह तो कभी उचित नही है। इसी के विरुद्ध संघर्ष होता रहा है। दूसरो को दबाकर लाभ उठाना यही अधिकार कहलाता है और इसी अधिकार को नष्ट करना नैतिकता का सदा उद्देश रहा है। यही एक कार्य है, जो विभिन्नता का नाश किए बिना हमें समानता और एकता की ओर ले जायगा।

हममें से प्रत्येक के भीतर अव्यक्त रूप में सत्, चित् और आनन्द का वही अनन्त सागर विद्यमान है, जो हमारा प्रकृत स्वरूप है, हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। अपने उस ईश्वरीय स्वरूप को प्रकट करने की अधिक या कम शक्ति के कारण ही हम लोगों में विभिन्नता है। अतः वेदान्त का सिद्धान्त है कि प्रत्येक मनुष्य के साथ, जैसा वह दिखाई देता है वैसा ही मानकर व्यवहार नहीं करना चाहिए, वरन् उसके वास्तविक स्वरूप को देखते हुए, जिसका कि वह प्रतीक है, उसके साथ बर्ताव करना चाहिए। प्रत्येक मनुष्य ईश्वर का ही प्रतीक है और इसी कारण

है।... इस कारण हमें एक-समानता से वचना चाहिए।... यह तो वास्तव में वही युक्ति है, जिसे भारतवर्ष के ब्राह्मण इस उद्देश से प्रयोग में लाया करते हैं, जिससे कि भिन्न-भिन्न भेद-भाव और जातियाँ वनी रहें और समाज के कुछ भाग के विशेष अधिकार अन्य सव लोगों पर चलाने के लिए कायम रहें। उनका कहना है कि जाति-भेद को नष्ट करने से समाज का नाश हो जायगा, और साहस के साथ वे इस ऐतिहासिक तथ्य को सामने लाते हैं कि हमारा समाज सवसे अधिक काल तक जीवित रहा है।

इसके विपरीत, एकत्व की भावना के समर्थक सभी जमाने में हुए हैं।... वेदान्ती की घोषणा है कि एकता का ही अस्तित्व है; विभिन्नता तो केवल इन्द्रियग्राह्य, क्षणभंगुर और भासमान है। वेदान्ती कहता है, "भिन्नता की ओर मत देखो; एकता की ओर लौट चलो।"... यह सत्य है कि विभिन्नता या भेद विद्यमान है, और यदि जीवन रहना है, तो विभिन्नता रहनी ही चाहिए। पर यह भी सत्य है कि इन भेदों में ही और उनके भीतर से ही एकता का अनुभव करना होगा।...

सारा विश्व विभिन्नता में एकता का खेल है।... इन एक को ग्रहण करना, दूसरे को माने बिना, नहीं हो सकता . यही एक विशेष दावा है——यह वात नहीं कि इस एकता निर्माण करना है, वल्कि यह एकता पहले से ही है और तुम एकता के विना विभिन्नता को बिलकुल ही नहीं देख सकते। नहीं कि ईश्वर को उत्पन्न करना है; वह तो पहले से ही है।... यह तुम इनकार नहीं कर सकते कि यही यथार्थ विचार है। पर साथ ही कठिनाई यह भी है कि वाह्य रूप और अवस्था में कभी क-समानता नहीं आ सकती। इस दिशा में जो कार्य सम्भव है,

वह है केवल अधिकारों को दूर करना। यथार्थ में यही कार्य सारे संसार के सामने है। सभी सामाजिक जीवनों में, प्रत्येक जाति और प्रत्येक देश में यही एक संघर्ष चल रहा है। यह कोई सोचने की बात नहीं है कि मनुष्य का एक दल स्वभावतः दूसरे से अधिक बुद्धिमान है; पर प्रश्न तो यह है कि क्या मनुष्य का यह दल, अधिक बुद्धि उपलब्ध रहने के कारण, दूसरे कम बुद्धिवालों से उनका भौतिक सुखोपभोग भी अपहरण कर ले? संघर्ष उस अधिकार को नष्ट करने के लिए है।... यदि कुछ मनुष्य अपनी विशिष्ट योग्यता-द्वारा दूसरों की अपेक्षा अधिक धन इकट्ठा करते हों, तो यह तो स्वाभाविक है; पर धन कमाने की इस शक्ति के कारण वे अत्याचार करें और दूसरे जो इतना धन नहीं प्राप्त कर सकते उनको बेतरह रौंदें, यह तो कभी उचित नहीं है। इसी के विरुद्ध संघर्ष होता रहा है। दूसरों को दबाकर लाभ उठाना यही अधिकार कहाता है और इसी अधिकार को नष्ट करना नैतिकता का सदा उद्देश रहा है। यही एक कार्य है, जो विभिन्नता का नाश किए बिना हमें समानता और एकता की ओर ले जायगा।

हममें से प्रत्येक के भीतर अव्यक्त रूप में सत्, चित् और आनन्द का वही अनन्त सागर विद्यमान है, जो हमारा प्रकृत स्वरूप है, हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। अपने उस ईश्वरीय स्वरूप को प्रकट करने की अधिक या कम शक्ति के कारण ही हम लोगों में विभिन्नता है। अतः वेदान्त का सिद्धान्त है कि प्रत्येक मनुष्य के साथ, जैसा वह दिखाई देता है वैसा ही मानकर व्यवहार नहीं करना चाहिए, वरन् उसके वास्तविक स्वरूप को देखते हुए, जिसका कि वह प्रतीक है, उसके साथ बर्ताव करना चाहिए। प्रत्येक मनुष्य ईश्वर का ही प्रतीक है और इसी कारण

प्रत्येक उपदेशक को चाहिए कि वह किसी मनुष्य की निन्दा न करे, वरन् उसे अपने अन्तःस्थित ईश्वरत्व को प्रकट करने में सहायता दे ।

मुझे इस बात का खेद है कि वर्तमान काल में जातियों के बीच इतना विवाद (विरोध ?) है । यह तो अवश्य बंद होना चाहिए । यह दोनों ओर से निरर्थक है, विशेषकर उच्च जातिवालों (ब्राह्मणों) की ओर से, क्योंकि अब इन अधिकारों और विशेष हकों के दिन बीत गए । समाज के प्रत्येक उच्च पदाधिकारी का कर्तव्य है कि वह अपने अधिकारों की कब्र आप ही खोदे और यह जितना शीघ्र हो, उतना ही सबके लिए बेहतर होगा । जितनी देर होगी, उतना ही वह सड़ेगा और उतनी ही बुरी मौत वह मरेगा । इसी लिए भारतवर्ष में ब्राह्मण का यह कर्तव्य है कि वह शेष मानव-जाति की मुक्ति के लिए कर्मशील बने । यदि वह ऐसा करता है और जब तक वह ऐसा करता है, तभी तक वह ब्राह्मण है; पर जब वह केवल पैसा कमाने में लग जाता है, तब वह ब्राह्मण नहीं है ।

मिथ्या देव

यहाँ पर मैं भोजन के नियमों के बारे में कुछ कहूँगा। सभी पुरानी रूढ़ियाँ लुप्त हो गई हैं और हमारे देशवासियों में अमुक व्यक्ति के साथ खाना और अमुक के साथ न खाना, इतना ही एक अनिश्चित-सा विचार शेष रह गया है। सैकड़ों वर्ष पूर्व जो अनेक अच्छे नियम बने थे, उनका केवल एक ही स्मृति-चिह्न आज बच रहा है और वह है 'स्पर्श की पवित्रता' अर्थात् स्पर्शास्पर्श-विचार। शास्त्रों में तीन प्रकार के भोजन या खाद्य पदार्थ का निषेध है। पहला तो वह, जो स्वभावतः ही दूषित हो—जैसे प्याज या लहसुन...। दूसरा वह, जो बाह्य अशुद्धियों के कारण दूषित हो गया हो... और तीसरा वह, जिसका स्पर्श किसी दुष्ट मनुष्य ने कर दिया हो, क्योंकि ऐसे स्पर्श से हममें बुरी भावनाएँ उत्पन्न होती हैं।...परन्तु आज इन नियमों का सार तत्त्व तो चला गया और शेष यही बच रहा कि जो उच्चतम जाति का मनुष्य न हो, उसके हाथ का अन्न हम नहीं खा सकते, वह चाहे जितना ही बुद्धिमान और पवित्र क्यों न हो। इन पुराने नियमों की अवहेलना हलवाई की दूकान में सदैव हुआ करती है। वहाँ तो तुम यह देखोगे कि मिठाइयों पर मक्खियाँ भिनभिना रही हैं और सड़क से धूल उड़-उड़कर जम रही है, और स्वयं हलवाईजी के कपड़े भी बहुत साफ नहीं हैं।...अब इसी से यह स्पष्ट है कि भोजन की शुद्धता के नियमों का सार तत्त्व तो नष्ट हो गया है और केवल शब्द मात्र शेष रह गए हैं। चोर, शराबी और जुर्म करनेवाले हमारे जाति-भाई हो सकते हैं; पर यदि कोई सज्जन और उदार पुरुष अपने से नीच जातिवाले व्यक्ति के साथ

भोजन कर ले, तो फिर चाहे वह दूसरा मनुष्य उसी के समान आदरणीय क्यों न हो, वह सदा के लिए जाति से बहिष्कृत कर दिया जायगा। यह प्रथा हमारे देश के लिए बड़ी नाशकारी रही है।

श्रुतियों का यह एक प्रसिद्ध वाक्य है—"जब आहार शुद्ध हो, तो सत्त्व शुद्ध हो जाता है और जब सत्त्व शुद्ध है, तब स्मृति (ईश्वर की स्मृति, स्वयं अपनी पूर्णता की स्मृति...) अधिक सच्ची, स्थिरतर और पूर्ण बन जाती है।"* आचार्य रामानुज 'आहार' शब्द का अर्थ अन्न लेते हैं और इसे ही उन्होंने अपने दर्शन का एक मुख्य अंग बनाया है।...श्रीशंकराचार्य...कहते हैं—इस 'आहार' शब्द का अर्थ है मन में के संचित विचार...। दोनों ही आवश्यक हैं।...पर दोष यह है कि वर्तमान भारतवर्ष में हम शंकराचार्य के उपदेश को तो भूल गए हैं और हमने केवल 'शुद्ध अन्न' वाले अर्थ को पकड़ रखा है। इसी कारण जब मैं कहता हूँ, "धर्म तो रसोई-घर में घुस पड़ा है," तब लोग मेरे प्रति बौखला जाते हैं। और यदि तुम मेरे साथ मद्रास में होते, तो मुझसे सहमत हो जाते। बंगाली लोग उनसे अच्छे हैं। मद्रास में तो भोजन की ओर यदि किसी की दृष्टि पड़ जाय, तो उसे वे फेंक देते हैं। और इतना सब होते हुए भी वहाँ के लोग मुझे किसी प्रकार अधिक अच्छे नहीं दिखाई देते। यदि केवल इस या उस तरह का अन्न खाने से और भोजन को अमुक-तमुक मनुष्य की दृष्टि से बचाने से ही उन्हें पूर्णता प्राप्त हो जाती, तब तो तुम उन सबों को पूर्ण मनुष्य के रूप में देखते; पर ऐसा है तो नहीं।

---

* आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः सत्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः। —छान्दोग्य उपनिषद्, ७-२६

शंकराचार्य ने कहा है—'आहार' शब्द का अर्थ है... 'इन्द्रियों का विषय,' जबकि रामानुज ने आहार का अर्थ 'अन्न' माना है। मेरे मत में, हमें उस शब्द का ऐसा अर्थ लगाना चाहिए, जिसमें दोनों दृष्टिकोणों का मेल हो सके। क्या हमें अपना जीवन सदा केवल भोजन की शुद्धता और अशुद्धता का विचार करते हुए ही बिताना है, या हमें अपनी इन्द्रियों के निग्रह का अभ्यास करना है? वास्तव में इन्द्रिय-निग्रह ही मुख्य उद्देश्य है; और अच्छे और बुरे, शुद्ध और अशुद्ध भोजन का निर्णय तो हमें केवल किसी अंश तक ही उस उद्देश्य की प्राप्ति में सहायक होता है। हमारे शास्त्रों के अनुसार, भोजन तीन तरह से अशुद्ध हो जाता है:—

(१) जाति-दोष—विशेष जाति के खाद्य पदार्थ के नैसर्गिक दोष, जैसे प्याज, लहसुन आदि।

(२) निमित्त-दोष—खाद्य पदार्थ में बाहरी अशुद्धियों के—कीड़े, धूल आदि के—कारण होनेवाले दोष, जैसे दूकान से खरीदी हुई मिठाइयों में होता है।

(३) आश्रय-दोष—खाद्य पदार्थ के दूषित स्थान से प्राप्त होने के कारण दोष, जैसे दुष्ट मनुष्यों के स्पर्श करने या हाथ लगाने से होता है।

पहले और दूसरे प्रकार के दोषों से बचने की विशेष सावधानी रखनी चाहिए। पर इस देश में लोग इन दोनों से तो बचने की कोई परवाह नहीं करते और केवल तीसरे प्रकार के दोष को लेकर ही लड़ते रहते हैं। वह तीसरा दोष तो ऐसा है, जिसका निर्णय यथार्थ में केवल योगी ही कर सकता है।

अब तो यह आशंका होती है कि हमारा धर्म केवल रसोई-घर में ही कहीं आबद्ध न हो जाय। आजकल हममें से बहुतेरे न तो वेदान्ती हैं, न पौराणिक और न तान्त्रिक ही। हम तो केवल 'मत छुओ वादी' हैं। हमारा धर्म रसोई-घर में है। पकाने का बरतन हमारा ईश्वर है और "मुझको मत छूना, मैं पवित्र हूँ"—यही हमारा धर्म है। यदि ऐसा एक शताब्दी तक और चलता रहा, तो हममें से प्रत्येक पागलखाने में पहुँच जायगा।

* * * *

आजकल भोजन और वर्णाश्रम के विषय में चिल्लाहट मची हुई है, और इस चिल्लाहट में बंगालियों की आवाज सबसे तेज है। मैं तुममें से प्रत्येक से पूछूँगा कि तुम इस वर्णाश्रम के सम्बन्ध में क्या जानते हो? इस देश में आज वे चार वर्ण हैं कहाँ? मुझे उत्तर दो। मुझे वे चार वर्ण तो नहीं दिखाई देते। जैसे बंगाली में कहावत है—"बिना सिर के सिर-दर्द," उसी तरह यहाँ तुम इस वर्ण-आश्रम को बनाना चाहते हो। यहाँ चार वर्ण तो नहीं हैं। मुझे तो केवल ब्राह्मण और शूद्र दिखाई देते हैं। यदि क्षत्रिय और वैश्य हैं, तो वे हैं कहाँ? और तुम ब्राह्मण लोग उन्हें यज्ञोपवीत धारण करने तथा वेदाभ्यास की—जैसा प्रत्येक हिन्दू को करना चाहिए—आज्ञा क्यों नहीं देते?—और यदि वैश्य और क्षत्रिय नहीं हैं—केवल ब्राह्मण और शूद्र ही हैं—तब तो शास्त्रों का कहना है कि जहाँ केवल शूद्र हों, ऐसे देश में ब्राह्मणों को नहीं रहना चाहिए; अतः तुम सब ब्राह्मण अपना बोरिया-बिस्तर बाँधकर यहाँ से चले जाओ! म्लेच्छों का अन्न खानेवाले और म्लेच्छों के राज्य में रहनेवाले के लिए—जैसा तुम गत सहस्र वर्ष से कर रहे हो—तुम जानते हो, शास्त्रों ने क्या कहा

है? उसके लिए क्या प्रायश्चित्त है, जानते हो? प्रायश्चित्त है— अपने हाथों से अपने को जला डालना। ढोंगी होते हुए भी क्या तुम आचार्य कहलाना चाहते हो? . . . तुम्हे तो अपने ही शास्त्रों में विश्वास नहीं है और तुम दूसरों को उनमें विश्वास कराना चाहते हो! और यदि तुम समझते हो कि तुम अभी वैसा करने में असमर्थ हो, तो अपनी दुर्बलता स्वीकार करो और दूसरों को उनकी दुर्बलता के लिए क्षमा करो, दूसरी जातिवालों को ऊपर उठाओ, उनकी सहायता के लिए हाथ बढ़ाओ, उन्हे वेदों का अध्ययन करने दो और संसार के अन्य आर्यों के समान, उन्हें भी अच्छे आर्य बनने दो। और उसी तरह, ऐ बंगाल के ब्राह्मणो, तुम भी आर्य बनो।

आज जो हमारी जाति-संस्था है, वह सात सौ वर्ष पहले की जाति-संस्था नहीं रही। प्रत्येक आघात ने उसको पक्का किया है।

क्या तुम यह नही देखते कि अब भारतवर्ष में कहीं भी पुराने समय की मूल चार जातियाँ—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—नहीं हैं? ब्राह्मणों के आधुनिक अगणित विभागों को, जिनके कारण वे मानो इतनी बहुतसी जातियों में विभक्त हो गए हैं, नष्ट कर उन सबों को एक में संयुक्त करके एक ही ब्राह्मण जाति बनानी है। उसी तरह शेष तीन जातियो में से प्रत्येक को भी एक-एक समुदाय में, जैसा वैदिक काल में था, लाना है। इसके बिना, आजकल के समान "हम तुमको नहीं छूते," "हम तुमको अपनी जाति में वापस नहीं लेते" केवल ऐसा चिल्लाते रहने से क्या मातृभूमि को सच्चा लाभ हो सकता है? नहीं, भाई, नही हो सकता!

कोई भी मनुष्य, कोई भी राष्ट्र दूसरों के प्रति घृणा करके जीवित नहीं रह सकता। भारतवर्ष के दुर्भाग्य का निर्णय तो उसी दिन हो गया, जब 'म्लेच्छ' शब्द का उन्होंने आविष्कार किया और दूसरों से मेल-जोल बंद कर दिया। यह भाव तुम पर किस तरह का प्रभाव डालता है, इसकी सावधानी रखना। वेदान्त के सम्बन्ध में बड़ी-बड़ी बातें करना सरल है, पर उसके छोटे-से-छोटे आदेशों तक का पालन करना कितना कठिन है!

हमारे देश में ऐसा बहुत सुनते हैं कि कुछ लोग सभ्य समाज के हैं और कुछ लोग नीच जाति के। पर सरकार की निगाह में तो सब-के-सब, बिना किसी अपवाद के, 'नेटिव' (Native) ही हैं। महाराजा, राजा, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र——सभी उसी 'नेटिव' जाति के हैं। जो कानून और कसौटी कुलियों के लिए है, वही बिना किसी भेद-भाव के सभी नेटिव लोगों पर भी लागू है। तुमको धन्यवाद है अंग्रेज सरकार! तुम्हारी दया से कम-से-कम क्षण भर के लिए तो मैं अपने को सम्पूर्ण नेटिव समुदाय के साथ एक मानता हूँ! . . . आजकल हम भारत के सभी जातिवालों के मुँह से सुनते हैं कि उन सबों की नस-नस में आर्य-रक्त वह रहा है; उनमें मतभेद है केवल उनकी नसों में वहनेवाले इस रक्त की मात्रा के वारे में। कुछ लोगों का दावा है कि उनम यह पूरी-पूरी मात्रा में है, जबकि दूसरे में यह तीसरे
कम-ज्यादा हो सकता है——बस इतना ही। . . . और वे
"स देश में, अंग्रेजों के समान, दया करके आए हैं! . . .
धर्म भी उसी नमूने का है, जैसा अंग्रेजों का! और उनके
े वैसे ही दिखते थे, जैसे अंग्रेज लोग; केवल भारतवर्ष के
गर्मी में रहने से उनका रंग काला हो गया है! अब यदि

तुममें साहस हो, तो अपने दावे सामने रखो! सरकार कहती है, "तुम सब नेटिव हो।" काले रंगवालों में हलका काला और गहरा काला का कोई भेद नहीं किया जा सकता। सरकार कहती है — "वे सभी नेटिव हैं।" ...

अतः छोड़ो काले और सफेद के इन भेद-भावों को, और नेटिव, लोगों में आर्य-रक्त के अनुपात के सूक्ष्म विचार को। गुलामों को अपने पूर्व-पुरुषों की वंशावली के विषय में अत्यधिक बारीकी से विचार करते देख बड़ा भद्दा-सा मालूम होता है! एक डोम कहा करता था, "पृथ्वी पर हमारी जाति से बढ़कर दूसरी जाति तुम और कहीं नहीं पाओगे। तुमको जानना चाहिए— हम डोऽऽम हैं।" यह तमाशा तुमने देखा? जाति-भेद की पराकाष्ठा अधिकतर उन्हीं लोगों में है, जिनका मनुष्य-जाति में सम्मान शून्य-सा है।

मैं भारतवर्ष के सम्बन्ध में क्या कहूँ? वहाँ के शूद्र-वर्ग की बात अभी छोड़ दो। वहाँ के ब्राह्मण, जो शास्त्रीय ज्ञान का सम्पादन किया करते थे, वे आज हैं विदेशी अध्यापकगण; यहाँ के क्षत्रिय हैं अंग्रेज शासकगण; और वैश्य भी अंग्रेज ही हैं, जिनकी हड्डी-चर्बी में व्यवसाय की स्वाभाविक प्रवृत्ति भरी है। इस प्रकार केवल शूद्रत्व — भारवाहक पशुत्व — ही अब भारतवासियों के पास बाकी बच रहा है। वर्तमान समय में हम सबों को सघन काले बादलों ने समान रूप से ढँक लिया है। ... ऐसे देश की विशिष्ट शूद्र जाति के सम्बन्ध में अलग क्या कहा जाय, जहाँ के सभी देशवासी वस्तुतः शूद्र जाति की श्रेणी में उतर चुके हैं?

में दूसरे धर्मवाले परदेशियों के साथ अन्तर्विवाह करने की सलाह नहीं देता। कम-से-कम आज तो उससे निश्चय ही सामाजिक बन्धन शिथिल पड़ जायँगे और कई प्रकार के उपद्रव भी खड़े हो जायँगे। मैं तो एक ही धर्म माननेवालों को परस्पर विवाह करने की सलाह देता हूँ। अभी (२४ जनवरी, १८९८) उस समय के आने में बहुत विलम्ब है, जब उस तरह के विवाह बहुत से हो सकेंगे। इसके अतिरिक्त अभी एकाएक वैसा करना विवेक-युक्त भी न होगा। काम करने का एक रहस्य यह है कि उसी मार्ग से चलना चाहिए, जिसमें कम-से-कम विरोध की संभावना हो। अतः, प्रथमतः तो एक ही जातिवालों के भीतर विवाह होने दो। उदाहरणार्थ, बंगाल के कायस्थों को लो। उनमें बहुत से उपविभाग हैं—जैसे उत्तरराढ़ी, दक्षिणराढ़ी, बंगज आदि; और उनमें अन्तर्विवाह नहीं होते। अब, उत्तरराढ़ियों और दक्षिण-राढ़ियों में अन्तर्विवाह प्रारम्भ होने दो। और यदि अभी वह सम्भव न हो, तो बंगज और दक्षिणराढ़ियों में होने दो। इस प्रकार, हमें पहले उसी को बनाना है, जो पूर्व से ही है और जिसे व्यवहार में लाना हमारे हाथ में है—सुधार का अर्थ सम्पूर्णतः तोड़-फोड़ कर देना नहीं है।...

क्या तुम यह नहीं देखते कि किस प्रकार हमारे समाज में विवाह का सम्बन्ध, प्रत्येक जाति के एक-एक उपविभाग में ही कई शताब्दियों तक प्रतिबद्ध रहने के कारण, आजकल ऐसी स्थिति में पहुँच गया है कि बहुधा चचेरे भाई-बहन और निकट-तम नातेदारों तक में विवाह होने लगा है और इस कारण राष्ट्र में कैसा शारीरिक ह्रास हो रहा है? इसके परिणामस्वरूप राष्ट्र [illegible] तथा अन्य दोष आसानी से प्रवेश करते जा

रहे हैं—यह भी क्या नहीं देखते ? कुछ मर्यादित संख्या के व्यक्तियों की संकुचित परिधि में ही सचार होने के कारण उनका रक्त दूषित हो गया है। और यही कारण है कि नवजात शिशु अपने जन्म से ही अपने माता-पिता के शरीरस्थ रोगों को प्राप्त कर लेता है। इस तरह, अल्पशक्तिवाले रक्त के साथ जन्म लेनेवाले इन बालकों के शरीर में किसी भी बीमारी के कीटाणुओं से, जो उन पर शिकार करने को सदा तैयार रहते हैं, लोहा लेने की शक्ति बहुत कम रहती है। विवाह की परिधि का विस्तार करने से ही हम नवीन और भिन्न प्रकार का रक्त अपने वंशजों में प्रविष्ट कर सकेंगे—ताकि वे आजकल की बहुतेरी बीमारियों और दूसरे परिणामभूत दोषों के चंगुल से बच सकें।

* * * *

यहाँ पर स्वभावतः जाति और सामाजिक सुधार का वह कठिन और कष्टप्रद प्रश्न उठता है, जो हमारे देशवासियों के मन में शताब्दियों से अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा है। मैं तुम्हें साफ बतला देना चाहता हूँ कि मैं न तो जाति तोड़नेवाला हूँ और न निरा समाज-सुधारक ही हूँ। प्रत्यक्ष रूप से तो मुझे तुम्हारी जातियों या तुम्हारे सामाजिक सुधारों से कोई प्रयोजन नहीं। जो जाति तुम्हें पसंद हो, उसमें रहो; पर उसके कारण तुम्हें किसी दूसरे मनुष्य या जाति से घृणा नहीं करनी चाहिए। प्रेम, और केवल प्रेम का ही मैं उपदेश करता हूँ, और मेरे उपदेश का आधार है 'विश्वात्मा का सर्वव्यापित्व और उसका सर्वत्र समान रूप से अस्तित्व' विषयक वेदान्त-प्रतिपादित महान् सत्य।

हम लोग सनातन धर्मावलम्बी हिन्दू हैं; किन्तु हम अपने को 'छुओ मत वाद' के साथ सम्मिलित नहीं करना चाहते।

वह चीज हिन्दू धर्म नहीं है; वह हमारे किसी भी ग्रंथ में नहीं है; वह एक कुसंस्कार है, जो हर प्रकार राष्ट्रीय योग्यता में बाधक रहा है।

ब××ने मुझे स××द्वारा लिखित एक पुस्तक भेजी है। उस पुस्तक को पढ़कर ब××को मालूम हुआ है कि संसार के सभी मनुष्य अशुद्ध हैं तथा अपने स्वभाव से ही वे धर्म का एक विन्दु भी ग्रहण करने योग्य नहीं हैं। भारतवर्ष के केवल मुट्ठी भर ब्राह्मणों को ही धर्म का एकाधिपत्य प्राप्त है और उनमें भी स ××और व ××तो मानो सूर्य और चन्द्र हैं। वाह! वाह!! सचमुच यह कैसा शक्तिशाली धर्म है! विशेषकर बंगाल में तो उस प्रकार के धर्म का अभ्यास करना बहुत आसान है। उससे अधिक सरल मार्ग और नहीं है। तपस्या और धार्मिक अभ्यासों का सम्पूर्ण सत्य-तत्त्व संक्षेप में यही है कि मैं शुद्ध हूँ और बाकी सब अशुद्ध हैं! यह धर्म तो पशु-योग्य, राक्षसी और नारकीय है!

हमारे मस्तिष्क तो हैं, पर हाथ नहीं हैं। हमारे पास वेदान्त के सिद्धान्त तो हैं, पर तदनुसार आचरण करने की शक्ति नहीं। हमारी पुस्तकों में विश्वव्यापी समता का सिद्धान्त तो है, पर कार्य या व्यवहार में हम बड़े-बड़े भेद-भाव रखते हैं। यह भारतवर्ष ही है, जहाँ अत्युच्च श्रेणी के निःस्वार्थ और निष्काम कर्म करने का उपदेश दिया गया था, पर व्यवहार में हम भयंकर रीति से निर्दय और हृदयहीन हैं—हम अपने इस रक्त-मांसमय को छोड़ किसी दूसरी बात का विचार करने में ही हैं।

इन्द्रियनिष्ठ जीवन मृत्युतुल्य है। आत्मनिष्ठ जीवन ही है और दूसरा किसी भी प्रकार का जीवन मृत्यु है। यह

सम्पूर्ण जीवन मानो एक अखाड़ा है। सच्चे जीवन का आनन्द भोगने के लिए हमें उसके परे जाना चाहिए। जब तक "मुझको मत छुओ वाद" तुम्हारा धर्म है और रसोई का पात्र तुम्हारा देवता, तब तक तुम आध्यात्मिक उन्नति नही कर सकते।

हा, शोक! देश के गरीबों का कोई विचार नहीं करता। वे ही तो देश के मेरुदण्ड है, जो अपने परिश्रम से अन्न उत्पन्न करते हैं — ये मेहतर और मजदूर, यदि ये लोग एक दिन काम बद कर दें, तो शहर भर मे घबराहट फैल जाय। पर उनके साथ सहानुभूति रखनेवाला कौन है? उनकी विपत्ति में उनको सान्त्वना देनेवाला कौन है? जरा देखो तो, हिन्दुओं की सहानुभूति के अभाव में मद्रास में सहस्रों परिया ईसाई बने जा रहे हैं। ऐसा मत सोचो कि यह केवल पेट की ज्वाला के कारण हो रहा है; असल में हमसे सहानुभूति न पाने के कारण ही ऐसा हो रहा है। हम रात-दिन उनको यही पुकारकर कहते रहते हैं — "हमें मत छुओ, हमें मत छुओ!" देश में हृदय की दयालुता या आर्द्र भाव कही है क्या? केवल 'मत छुओ वाद' वाले ही हैं। इन सब रूढ़ियों को ठोकर मारकर निकाल दो! मेरी तो कभी-कभी ऐसी प्रबल आकाक्षा होती है कि 'मत छुओ वाद' के बन्धनो को तोड़ फेंकूँ, तुरन्त जाऊँ और पुकारूँ — "चले आओ सब कोई, जो गरीब, दुःखी, दीन-हीन और दलित हैं!" — और उन सबको श्रीरामकृष्ण के नाम पर एकत्रित कर संगठित कर लूँ। जब तक वे नही उठेंगे, माता नही जागेगी। . . . चलो, हम उनकी आँखें खोलें — मुझे सूर्य के प्रकाश के समान सबमें, उनमें और मुझमें वही एक ब्रह्म दिख रहा है — एक ही शक्ति सबमें विद्यमान है। भेद है केवल उसकी अभिव्यक्ति में। जब तक सारे

शरीर में रक्त का संचार न हो, तब तक क्या किसी देश की कभी भी उन्नति हुई है? यदि एक अंग में लकवा मार जाय, तो अन्य अंगों के पूर्ण रहते हुए भी, उस शरीर से कुछ अधिक काम नहीं लिया जा सकता—यह निश्चय रूप से जाने रहो।...

इतनी तपश्चर्या के पश्चात् मैं इसे ही यथार्थ सत्य जान सका हूँ कि ईश्वर सभी जीवों में वर्तमान है और उसके सिवाय कोई दूसरा ईश्वर नहीं है। "जो जीव की सेवा करता है, वही यथार्थ में ईश्वर की सेवा करता है।"

* * * *

वेदान्त के प्रत्यक्ष जन्म-स्थान हमारे इस देश में, हमारे जन-साधारण युगों से इस शोचनीय अवस्था में भ्रमित हो रहे हैं। उनको छूने से अपवित्रता होती है और उनके साथ बैठना भी अपवित्रता है! नैराश्य में उनका जन्म हुआ है और नैराश्य में ही उनको रहना पड़ेगा! इसका परिणाम यह हुआ कि वे डूबते ही चले गए और अब उस अत्यन्त निकृष्ट अवस्था में वे पहुँच चुके हैं, जहाँ तक मनुष्य जा सकता है। क्योंकि सोचो तो, संसार में ऐसा कौन देश है, जहाँ मनुष्य पशुओं के साथ सोता हो? और इसके लिए किसी दूसरे को दोष मत दो; अनजान की तरह गलती मत करो। परिणाम यहाँ है और उसका कारण भी यहीं है। दोषी हमीं हैं। खड़े होओ, साहसी बनो और दोष का भार अपने कंधों पर लो। दूसरों पर कीचड़ मत उछालो; क्योंकि जिन सब दोषों के परिणाम तुम भोग रहे हो, उनके एकमात्र कारण केवल तुम्हीं हो।

अस्पृश्यतावादी दल के 'छुओ मत' 'छुओ मत' की पुकार से सारा देश एक छोर से दूसरी छोर तक विनाश की ओर

लुढ़कता जा रहा है। उनके इस आत्मसीमित वृत्त के भीतर भले और बुरे मनुष्य की कोई पहचान नहीं है, क्योंकि वहाँ तो जिसके भी गले में सूत्र हो और जो अपने को ब्राह्मण बतलाता हो, उसके हाथों से अन्न ग्रहण किया जा सकता है! . . . तुम्हारा धर्म तो आजकल मानो रसोई के बरतन तक ही सीमाबद्ध हो गया है। तुम धर्म के उदात्त सत्यों को तो अलग एक ओर रख देते हो और फिर लड़ते रहते हो — जैसा कहते हैं — फल के लिए नहीं, उसके छिलके के लिए! . . .

अब, इधर देखो। तुम किसी एक वर्ग के ब्राह्मण हो — मान लो भट्टाचार्य हो, तो तुम्हें सभी वर्ग के ब्राह्मणों का पकाया हुआ भात क्यों नहीं खाना चाहिए? तुम राढ़ी विभागवालों को वारेन्द्र विभाग के ब्राह्मण के पकाए हुए भात के खाने में क्यों आपत्ति करनी चाहिए? या वारेन्द्र तुम्हारे पकाए हुए भात को खाने में क्यों आपत्ति करे? पुनश्च, पश्चिम और दक्षिण भारत की अन्य उपजातियाँ, उदाहरणार्थ मराठा, तैलग, कन्नौजी आदि को वैसा ही क्यों नहीं करना चाहिए? क्या तुम यह नहीं देखते कि अब बंगाल के सैकड़ों ब्राह्मण और कायस्थ सार्वजनिक भोजनालयों में मधुर पक्वान्न खाने के लिए छिपे-छिपे जाया करते हैं और वहाँ से वापस आकर, समाज के नेता बनकर 'मत छुओ वाद' के समर्थन के नियम बनाते हैं! क्या हमारे समाज को ऐसे पाखंडियों के बनाए हुए नियमों का पालन करना चाहिए? नहीं, मैं कहता हूँ, कदापि नहीं। इसके विपरीत, उनको तो हमें बहिष्कृत कर देना चाहिए। पुरातन महर्षि-प्रणीत नियमों को पुनः लाना चाहिए और एक बार फिर उनका पूर्ण शासन मानना चाहिए। तभी हमारे राष्ट्र का कल्याण हो सकता है।

उनकी संगति से दूर भागते हैं! क्या हम मनुष्य हैं? वे हजारों ब्राह्मण भारतवर्ष के नीच, पददलित जनसाधारण के लिए क्या कर रहे हैं? उनके ओंठों पर केवल 'छुओ मत' 'छुओ मत' वाक्य खेल रहा है! हमारा सनातन धर्म उनके हाथों कितना नीच और पतित बन गया है! हमारा धर्म अब कहाँ है?—केवल 'मत छुओ वाद' में, और अन्यत्र कहीं नहीं!

तुम्हारे सामने एक भयानक खाई है—सावधान हो जाओ! अनेकों उसमें गिरकर मर रहे हैं। वह खाई यह है कि हिन्दुओं का वर्तमान धर्म न तो वेदों में है, न पुराणों में, न भक्ति में और न मुक्ति में—वह तो केवल रसोई के बरतन में घुसा हुआ है। हिन्दुओं का वर्तमान धर्म न तो ज्ञान-मार्ग है और न बुद्धि-मार्ग—वह तो है 'मत छुओ वाद।'—'मुझको छुओ मत,' 'मुझको छुओ मत'—यही उसका पूरा वर्णन है। देखो, तुम अपना जीवन 'मत छुओ वाद' के इस घोर अधर्म में मत खो बैठना। "आत्मवत् सर्वभूतेषु" अर्थात् "सभी प्राणियों को स्वयं अपनी आत्मा के सदृश देखो"—क्या यह उपदेश केवल पुस्तकों के भीतर ही रह जायगा? जो भूखे के मुँह में एक टुकड़ा रोटी नहीं दे सकते, वे मुक्ति कैसे देंगे? जो दूसरों की केवल श्वास से ही अपवित्र हो जाते हैं, वे दूसरों को पवित्र कैसे बनाएँगे? 'मत छुओ वाद' एक प्रकार का मानसिक रोग है। सावधान! विकास ही जीवन है और संकीर्णता ही मृत्यु; प्रेम ही विकास है और स्वार्थपरता ही संकीर्णता। अतः प्रेम ही जीवन का एकमात्र नियम है।

अच्छा, क्या तुम सोचते हो कि भारतवर्ष में कोई धर्म बचा है! ज्ञान, भक्ति और योग के मार्ग—सभी तो चले गए और अब केवल बच रहा है 'मत छुओ वाद'—"मुझको मत छुओ" "मुझको मत छुओ" का मार्ग! सारा संसार अपवित्र है और केवल मैं ही पवित्र हूँ! कैसा सुन्दर ब्रह्मज्ञान है! वाह! हे परमेश्वर! आजकल तो ब्रह्म हृदय के अन्तर्तम प्रदेश में नहीं बसता, न वह सर्वोच्च स्वर्ग में बसता है और न समस्त भूतों में ही; अब तो वह रसोई-घर के बरतन में बसता है। पहले जमाने में उदार हृदयवाले मनुष्य की विशेषता थी "त्रिभुवनमुपकार-श्रेणिभिः प्रीयमाणः"—"सारे विश्व को अपने अनेक सेवा-कार्यों से प्रसन्न रखना;" पर अब तो यह है—मैं पवित्र हूँ और सारी दुनिया अपवित्र है—जाओ, पैसा लाओ और मेरे पैरों पर चढ़ाओ!

उनकी संगति से दूर भागते हैं! क्या हम मनुष्य हैं? ये हजारों ब्राह्मण भारतवर्ष के नीच, पददलित जनसाधारण के लिए क्या कर रहे हैं? उनके ओंठों पर केवल 'छुओ मत' 'छुओ मत' वाक्य खेल रहा है! हमारा सनातन धर्म उनके हाथों कितना नीच और पतित बन गया है! हमारा धर्म अब कहाँ है?—केवल 'मत छुओ वाद' में, और अन्यत्र कहीं नहीं!

तुम्हारे सामने एक भयानक खाई है—सावधान हो जाओ! अनेकों उसमें गिरकर मर रहे हैं। वह खाई यह है कि हिन्दुओं का वर्तमान धर्म न तो वेदों में है, न पुराणों में, न भक्ति में और न मुक्ति में—वह तो केवल रसोई के बरतन में घुसा हुआ है। हिन्दुओं का वर्तमान धर्म न तो ज्ञान-मार्ग है और न बुद्धि-मार्ग—वह तो है 'मत छुओ वाद।'—'मुझको छुओ मत,' 'मुझको छुओ मत'—यही उसका पूरा वर्णन है। देखो, तुम अपना जीवन 'मत छुओ वाद' के इस घोर अधर्म में मत खो बैठना। "आत्मवत् सर्वभूतेषु" अर्थात् "सभी प्राणियों को स्वयं अपनी आत्मा के सदृश देखो"—क्या यह उपदेश केवल पुस्तकों के भीतर ही रह जायगा? जो भूखे के मुँह में एक टुकड़ा रोटी नहीं दे सकते, वे मुक्ति कैसे देंगे? जो दूसरों की केवल श्वास से ही अपवित्र हो जाते हैं, वे दूसरों को पवित्र कैसे बनाएँगे? 'मत छुओ वाद' एक प्रकार का मानसिक रोग है। सावधान! विकास ही जीवन है और संकीर्णता ही मृत्यु; प्रेम ही विकास है और स्वार्थपरता ही संकीर्णता। अतः प्रेम ही जीवन का एकमात्र नियम है।

अच्छा, क्या तुम सोचते हो कि भारतवर्ष में कोई धर्म बचा है! ज्ञान, भक्ति और योग के मार्ग—सभी तो चले गए और अब केवल बच रहा है 'मत छुओ वाद'—"मुझको मत छुओ" "मुझको मत छुओ" का मार्ग! सारा संसार अपवित्र है और केवल मैं ही पवित्र हूँ! कैसा सुन्दर ब्रह्मज्ञान है! वाह! हे परमेश्वर! आजकल तो ब्रह्म हृदय के अन्तर्तम प्रदेश में नहीं बसता, न वह सर्वोच्च स्वर्ग में बसता है और न समस्त भूतों में ही; अब तो वह रसोई-घर के बरतन में बसता है। पहले जमाने में उदार हृदयवाले मनुष्य की विशेषता थी "त्रिभुवनमुपकार-श्रेणिभिः प्रीयमाणः"—"सारे विश्व को अपने अनेक सेवा-कार्यों से प्रसन्न रखना;" पर अब तो यह है—मैं पवित्र हूँ और सारी दुनिया अपवित्र है—जाओ, पैसा लाओ और मेरे पैरों पर चढ़ाओ!

हमारे देश में यदि कोई नीच जाति में जन्म ले, तो वह मानो सदा के लिए नष्ट हो गया, उसके लिए कोई आशा नहीं है। यह कैसा अत्याचार है! इस देश (संयुक्त अमेरिका) में प्रत्येक व्यक्ति के लिए उन्नति की सम्भावना, अवसर और आशा है। आज वह गरीब है, कल धनी, विद्वान् और आदरणीय बन जाय। यहाँ (संयुक्त अमेरिका में) हरएक, गरीब की सहायता करने के लिए उत्सुक रहता है। भारतवर्ष में यही एक चिल्लाहट है कि हम बहुत गरीब हैं, पर यहाँ गरीबों की भलाई के लिए ऐसी कितनी दातव्य संस्थाएँ हैं? भारतवर्ष में कितने मनुष्य करोड़ों गरीबों के दुःख और दर्द के लिए यथार्थ में रोते हैं? क्या हम मनुष्य हैं? उनकी आजीविका के लिए, उनके सुधार के लिए हम लोग क्या कर रहे हैं? हम उनका स्पर्श तक नहीं करते, हम

नहीं हैं, वरन् वह उसकी उन्नति का बाधक है। उसने जाति के स्वतंत्र कार्य को—जाति में होनेवाले परिवर्तनों को रोक दिया है। कोई भी सुदृढ़ रूढ़ि, अधिकार या परम्परागत वर्ग—वह किसी भी रूप में क्यों न हो—जाति के पूर्ण विकास में यथार्थ में रुकावट ही डालता है। और जब कभी कोई राष्ट्र इस प्रचुर विभिन्नता का सृजन करना बंद कर देता है, तो उसकी मृत्यु निश्चित है।...प्रत्येक सुदृढ़ सामन्तशाही या विशेष अधिकार-प्राप्त वर्ग जाति पर आघात करनेवाला है, जाति नहीं है। जाति को विकसित होने दो; उसके मार्ग की समस्त बाधाओं को हटा दो, और तब हमारी उन्नति होगी।... प्रत्येक हिन्दू को विदित है कि ज्योतिषी किसी बालक या बालिका का जन्म होते ही उसकी 'जाति' निश्चित करने का प्रयत्न करते हैं। वही—वह व्यक्तित्व ही—उसकी यथार्थ जाति है, और ज्योतिषशास्त्र ने इसको माना है। और हम तभी उन्नत हो सकते हैं, जब हम उसे विकास का पुन: पूर्ण अवसर दें। इस स्वाभाविक विभिन्नता का अर्थ असमानता या कोई विशेष अधिकार नहीं है।

भारतवर्ष में मानवता का आदर्श ब्राह्मणत्व है, जैसा कि शंकराचार्य ने गीता के अपने भाष्य के प्रारम्भ में अपूर्व रीति से कहा है। उसमें वे ब्राह्मणत्व या ब्राह्मण-भाव की रक्षा के लिए ही श्रीकृष्ण के उपदेशक बनकर आने का कारण बताते हैं। वही महान् उद्देश्य था। इस ब्राह्मण को, इस ईश्वर-भावापन्न पुरुष को, इस ब्रह्मज्ञ, आदर्श और पूर्ण मानव को बने ही रहना चाहिए, उसे मिटने नहीं देना चाहिए। आज जाति के सभी दोषों के होते हुए भी, हम जानते हैं कि हम सबों को ब्राह्मण को उसका श्रेय देने के लिए तैयार रहना चाहिए, और हम यह भी जानते

५

कलह से बचो

वर्तमान जाति-भेद भारतवर्ष की उन्नति में बाधक है। वह संकीर्ण बनाता है, बाधा पहुँचाता है और अलग करता है। विचारों की प्रगति होने पर वह नष्ट हो जायगा।

मैं भारतवर्ष के शिक्षित वर्ग से पूर्ण सहमत हूँ कि समाज का पूर्णतः पुनर्गठन आवश्यक है; पर वह किया कैसे जाय? सुधारकों के विनाशकारी कार्यक्रम असफल हो गए। मेरा कार्यक्रम यह है: हमने भूतकाल में बुरा नहीं किया, सचमुच बुरा नहीं किया। हमारा समाज बुरा नहीं वरन् भला है, मैं केवल चाहता हूँ कि वह और भी अच्छा बने।...जाति की ही बात लो। अब, सृष्टि का अर्थ यह है,...जब तक किसी जाति में पौरुष और कार्यशीलता है, तब तक वह विभिन्नताओं का सृजन करेगी ही। जब वह विभिन्नताओं को उत्पन्न करना बंद कर देती है या उसे ऐसा करने से रोक दिया जाता है, तब वह मर जाती है। व्यक्ति को अपने स्वभाव, अपनी प्रकृति, अपनी जाति को प्रकट करने की यह स्वतंत्रता ही जाति की मूल भावना थी; और इसी लिए जाति हजारों वर्ष तक बनी रही। नए से नए ग्रन्थों में भी अन्तर्जातीय खान-पान का निषेध नहीं है और न किसी पुराने ग्रन्थ में अन्तर्विवाह की मनाई है। तब प्रश्न उठता है, भारतवर्ष के अधःपतन का क्या कारण था?—उत्तर आता है: जाति की स भावना का त्याग। जैसे गीता में कहा है, जाति के लोप होने सृष्टि का नाश हो जायगा।...वर्तमान जाति यथार्थ जाति

नहीं है, वरन् वह उसकी उन्नति का बाधक है। उसने जाति के स्वतंत्र कार्य को—जाति में होनेवाले परिवर्तनों को रोक दिया है। कोई भी सुदृढ़ रूढ़ि, अधिकार या परम्परागत वर्ग—वह किसी भी रूप में क्यों न हो—जाति के पूर्ण विकास में यथार्थ में रुकावट ही डालता है। और जब कभी कोई राष्ट्र इस प्रचुर विभिन्नता का सृजन करना बंद कर देता है, तो उसकी मृत्यु निश्चित है।... प्रत्येक सुदृढ़ सामन्तशाही या विशेष अधिकार-प्राप्त वर्ग जाति पर आघात करनेवाला है, जाति नहीं है। जाति को विकसित होने दो; उसके मार्ग की समस्त बाधाओं को हटा दो, और तब हमारी उन्नति होगी।... प्रत्येक हिन्दू को विदित है कि ज्योतिषी किसी बालक या बालिका का जन्म होते ही उसकी 'जाति' निश्चित करने का प्रयत्न करते हैं। वही—वह व्यक्तित्व ही—उसकी यथार्थ जाति है, और ज्योतिषशास्त्र ने इसको माना है। और हम तभी उन्नत हो सकते हैं, जब हम उसे विकास का पुनः पूर्ण अवसर दें। इस स्वाभाविक विभिन्नता का अर्थ असमानता या कोई विशेष अधिकार नहीं है।

भारतवर्ष में मानवता का आदर्श ब्राह्मणत्व है, जैसा कि शंकराचार्य ने गीता के अपने भाष्य के प्रारम्भ में अपूर्व रीति से कहा है। उसमें वे ब्राह्मणत्व या ब्राह्मण-भाव की रक्षा के लिए ही श्रीकृष्ण के उपदेशक बनकर आने का कारण बताते हैं। वही महान् उद्देश्य था। इस ब्राह्मण को, इस ईश्वर-भावापन्न पुरुष को, इस ब्रह्मज्ञ, आदर्श और पूर्ण मानव को बने ही रहना चाहिए, उसे मिटने नहीं देना चाहिए। आज जाति के सभी दोषों के होते हुए भी, हम जानते हैं कि हम सबों को ब्राह्मण को उसका श्रेय देने के लिए तैयार रहना चाहिए, और हम यह भी जानते

५

कलह से बचो

वर्तमान जाति-भेद भारतवर्ष की उन्नति में बाधक है। वह संकीर्ण बनाता है, बाधा पहुँचाता है और अलग करता है। विचारों की प्रगति होने पर वह नष्ट हो जायगा।

मैं भारतवर्ष के शिक्षित वर्ग से पूर्ण सहमत हूँ कि समाज का पूर्णतः पुनर्गठन आवश्यक है; पर वह किया कैसे जाय? सुधारकों के विनाशकारी कार्यक्रम असफल हो गए। मेरा कार्यक्रम यह है : हमने भूतकाल में बुरा नहीं किया, सचमुच बुरा नहीं किया। हमारा समाज बुरा नहीं वरन् भला है, मैं केवल चाहता हूँ कि वह और भी अच्छा बने।...जाति की ही बात लो। अब, सृष्टि का अर्थ यह है,...जब तक किसी जाति में पौरुष और कार्यशीलता है, तब तक वह विभिन्नताओं का सृजन करेगी ही। जब वह विभिन्नताओं को उत्पन्न करना बंद कर देती है या उसे ऐसा करने से रोक दिया जाता है, तब वह मर जाती है। व्यक्ति को अपने स्वभाव, अपनी प्रकृति, अपनी जाति को प्रकट करने की यह स्वतंत्रता ही जाति की मूल भावना थी; और इसी लिए जाति हजारों वर्ष तक बनी रही। नए से नए ग्रन्थों में भी अन्तर्जातीय खान-पान का निषेध नहीं है और न किसी पुराने ग्रन्थ में अन्तर्विवाह की मनाई है। तब प्रश्न उठता है, भारतवर्ष ...धःपतन का क्या कारण था?—उत्तर आता है : जाति की ...ा का त्याग। जैसे गीता में कहा है, जाति के लोप होने ... का नाश हो जायगा।...वर्तमान जाति यथार्थ जाति

रक्षा का एक ही उपाय, अपनी स्थिति सुधारने का एकमात्र मार्ग, जो तुम निम्न जातिवालों को मैं बताता हूँ, वह है संस्कृत का अध्ययन। उच्च जातियों के साथ यह लड़ना-भिड़ना, उनके विरुद्ध लेख लिखना और कुड़कुड़ाना सब व्यर्थ है। उसमें कोई भलाई नहीं, उससे तो लड़ाई-झगड़े ही पैदा होते हैं; और इस राष्ट्र में, जहाँ दुर्भाग्यवश पहले से ही फूट फैली हुई है, और भी अधिक फूट फैल जायगी। जातियों को समतल करने का एक ही मार्ग है—उस संस्कृति को, उस शिक्षा को अपनाना, जो उच्चतर जातियों का बल है। इतना कर लेने पर तुम अपनी इष्ट वस्तु को प्राप्त कर लोगे।

वह संस्कृति ही है—न केवल ज्ञान की राशि—जो आघात का प्रतिरोध कर सकती है।... आधुनिक काल में, ज्ञानराशि से सम्पन्न राष्ट्रों के विषय में हम सभी जानते हैं; पर उनकी क्या दशा है? वे तो व्याघ्र के समान हैं, बर्बरों के सदृश हैं; क्योंकि उनमें संस्कृति नहीं है। ज्ञान केवल ऊपरी चर्म की सतह तक ही सीमित है और उतनी ही उथली सभ्यता भी है, जिसमें थोड़ा खरोंच लगते ही पुरानी राक्षसी वृत्ति प्रकट हो जाती है। ऐसी बातें हुआ करती हैं—यही भय है। जनसाधारण को उनकी भाषा में शिक्षा दो, उनके सामने विचारों को रखो। इससे उन्हें जानकारी प्राप्त होगी; परन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं, उनसे कुछ और अधिक की भी आवश्यकता है; उन्हें संस्कृति दो। जब तक उन्हें संस्कृति नहीं प्राप्त होगी, तब तक जनसाधारण की उन्नत दशा स्थायी नहीं हो सकती।

ब्राह्मणों से मैं विनय करता हूँ कि वे जितना जानते हैं, उतना सिखाकर, सदियों से संचित संस्कृति को देकर भारतीयों का उत्थान करने के लिए कठिन परिश्रम करें। सच्चा ब्राह्मणत्व क्या है, यह स्मरण रखना ब्राह्मणों का स्पष्ट कर्तव्य है। जैसा मनु महाराज कहते हैं—ये सभी सम्मान और अधिकार ब्राह्मण को इसलिए दिए गए हैं कि "उसके पास सद्‌गुण का खजाना है।" ब्राह्मण को चाहिए कि उस खजाने को खोलकर उसमें की बहुमूल्य वस्तुएँ संसार को बाँटे। यह सच है कि ब्राह्मण ही भारतीय जातियों के सर्वप्रथम उपदेशक थे, उन्होंने जीवन के उच्चतर उद्देश्य का अनुभव प्राप्त करने के लिए, दूसरों के उस विचार तक पहुँच सकने के पूर्व ही, सर्वस्व का त्याग किया। और यह उनका अपराध नहीं कि अन्य जातियों से पहले वे उस उद्देश्य तक पहुँच गए।... परन्तु लाभ उठाना एक बात है और उसका अनुचित उपयोग करने के लिए उसको बचाए रखना दूसरी बात। जब कभी शक्ति का उपयोग अनिष्ट के लिए किया जाता है, तब वह राक्षसी हो जाती है। उसका उपयोग केवल भलाई के लिए होना चाहिए। अतएव युगों से संचित इस संस्कृति को, जो ब्राह्मण के पास धरोहर-रूप में रही है, अब वह जनसाधारण में वितरण करे। और चूँकि उसने इसे जनता को नहीं दिया, इसी लिए भारतवर्ष पर मुसलमानों की चढ़ाई सम्भव हो सकी। प्रारम्भ से ही इस खजाने को उसने जनसाधारण के लिए नहीं खोला, इसी कारण सहस्र वर्ष तक हम लोग, जिस किसी ने भारतवर्ष पर चढ़ाई की, उसी के पैरों तले रौंदे गए। यही कारण है क हम अवनति को पहुँच गए हैं। अतः पहला काम है उन कोठरियों ो फोड़कर खोल देना, जहाँ हमारे पूर्वजों के इकट्ठा किए हुए

आश्चर्यजनक खजाने छिपे रखे हैं। उनको बाहर निकालो और हर एक को बाँट दो; और ऐसा करनेवाला सर्वप्रथम ब्राह्मण ही हो। बंगला में ऐसा पुराना विश्वास है कि नाग यदि अपने काटे गए व्यक्ति के शरीर से अपना विष चूस ले, तो वह व्यक्ति जी उठता है। तब तो, ब्राह्मणों को चाहिए कि वे अपना विष स्वयं ही चूस लें।

भारतवर्ष में किसी भी जाति के जन्म की सर्वश्रेष्ठता, जिसका अत्यधिक अनुचित दावा किया जाता है, केवल कपोल-कल्पित है। और यह कहते हमें खेद होता है कि भाषा की विभिन्नता के कारण दक्षिण को छोड़ भारत के अन्य किसी भाग में उसे अनुकूल वातावरण प्राप्त नहीं हुआ। . . . भारत में जाति को हम ईश्वर-प्रदत्त एक सबसे महान् सामाजिक संस्था मानते हैं। हम यह भी मानते हैं कि यद्यपि कुछ अनिवार्य दोषों तथा विदेशियों के अत्याचारों ने, और सबसे बढ़कर, बहुत से ऐसे ब्राह्मणों के —जो उस नाम के भी योग्य नहीं हैं— घोर अज्ञान और अभिमान ने इस महान् गौरवशाली भारतीय संस्था की न्यायोचित सफलता में अनेक प्रकार से बाधा पहुँचाई है, परन्तु फिर भी भारतभूमि के लिए यह संस्था पहले ही आश्चर्यजनक काम कर चुकी है, और भविष्य में भी यह भारत की मानव-जाति को उसके उद्देश्य की प्राप्ति निश्चित रूप से कराएगी। . . .

अतएव, कोई भी व्यक्ति, जो ब्राह्मण होने का दावा करता है, अपने इस दावे को, पहले तो अपनी आध्यात्मिकता प्रकट कर और तत्पश्चात् दूसरों को भी उसी श्रेणी में उठाकर, प्रमाणित करे। पर दिखाई यह देता है कि उनमें से अधिकतर ऐसे हैं, जो केवल जन्म के कारण मिथ्या अभिमान कर रहे हैं, और कोई

भी कपटपूर्ण युक्तिवाला व्यक्ति, चाहे वह देशी हो या विदेशी, जो उनके इस मिथ्या अभिमान और प्रकृतिगत आलस्य में छल-युक्त मिथ्या तर्क-द्वारा सहायता पहुँचा सकता है, उन्हें उतना ही अधिक संतोषजनक प्रतीत होता है। ब्राह्मणो! सावधान!! यह मृत्यु का लक्षण है! उठकर खड़े हो जाओ और अपने आसपास के अ-ब्राह्मणों को उन्नत बनाकर अपना मनुष्यत्व, ब्राह्मणत्व दिखाओ। यह कार्य न तो स्वामी-भाव से करो, और न इस कार्य में पूर्व तथा पश्चिम के अंधविश्वास एवं कपट व्यवहार-युक्त घृणास्पद अहंभाव ही हो; यह कार्य तो केवल सेवा की भावना से किया जाय। कारण, यह निश्चित सत्य है कि जो सेवा करना जानता है, वही शासन करना भी जानता है। ब्राह्मणेतर लोग भी जाति-विद्वेषरूपी अग्नि सुलगाने में अपनी शक्ति का अपव्यय करते रहे हैं, जिस अग्नि में प्रत्येक अ-हिन्दू को एक बोझ लकड़ी डाल देने में बड़ी खुशी होगी। पर यह सब बिलकुल निरर्थक है और समस्या को हल करने में नितान्त निरुपयोगी है। इन अन्तर्जातीय झगड़ों से हम न एक कदम आगे बढ़ सकते हैं और न कभी कोई कठिनाई ही दूर हो सकती है। और यह अग्नि यदि प्रज्वलित होकर भड़क उठे, तो घटनाओं का लाभ-दायक प्रगतिशील क्रम सम्भवतः सदियों के लिए पीछे फेंक दिया जायगा।

* * * *

यह सत्य है कि जाति-प्रथा स्वाभाविक तथा आवश्यक बन जाती है। किसी एक विशिष्ट कार्य की ओर जिनकी प्रवृत्ति होती है, वे एक वर्ग बन जाते हैं। पर किसी एक व्यक्ति का वर्ग कौन निश्चित करे? यदि कोई ब्राह्मण समझता है कि उसमें

आध्यात्मिक संस्कृति के लिए विशेष योग्यता है, तो उसे खुले क्षेत्र में शूद्र के साथ उतर आने में क्या डर है? क्या बढ़िया घोड़ा अड़ियल टट्टू के साथ घुड़दौड़ करने में डरेगा?

प्रत्येक कार्य, जो किसी को अपना ब्रह्मभाव प्रकट करने में सहायक हो, भला है, और जो उसमें बाधा पहुँचाता हो, बुरा है। हमारे लिए अपने ब्रह्मभाव को प्रकट करने का एकमात्र मार्ग यह है कि हम दूसरों को उनके ब्रह्मभाव के प्रकटीकरण में सहायता दें। यद्यपि प्रकृति में असमानता है, फिर भी सबके लिए समान अवसर होना चाहिए—या यदि किसी को अधिक और किसी को कम अवसर देना ही है, तो निर्बलों को सबल से अधिक अवसर देना उचित है। दूसरे शब्दों में, ब्राह्मण को शिक्षा की उतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी चाण्डाल को। यदि ब्राह्मण के लड़के को एक शिक्षक चाहिए, तो चाण्डाल के लड़के को दस, क्योंकि अधिकतर सहायता उसे मिलनी चाहिए, जिसे प्रकृति ने जन्म से कुशाग्र बुद्धि नहीं दी है। वह कोई पागल ही होगा, जो उलटे बाँस बरेली को ले जाय। गरीब, दलित, अज्ञानी को तुम अपना ईश्वर जानो।

हमारे धनी-मानी पूर्वज हमारे देश के जन-साधारण को पैरों तले तब तक रौंदते रहे, जब तक कि वे निःसहाय न हो गए, जब तक कि उस घोर कष्ट के कारण वे बेचारे गरीब यह भी न भूल-से गए कि वे भी मनुष्य हैं।...वर्तमान काल की सारी शिक्षा के होते हुए भी—जिसकी हम इतनी डींग मारा करते हैं—हमारी दशा ऐसी शोचनीय है कि यदि कोई उन बेचारे गरीबों के लिए कोई दयापूर्ण बात कह दे, तो मैं बहुधा अपने बन्धुओं को तत्क्षण उन पददलित लोगों को ऊपर उठाने के कर्तव्य में झिझकते और

उससे पीछे हटते हुए पाता हूँ। इतना ही नहीं, वरन् मैंने यह भी देखा है कि हर तरह की अत्यन्त राक्षसी और पाशविक दलीलें, जो पाश्चात्य संसार के आनुवंशिक संक्रमण के बेढब भावों और अन्य ऐसे ही व्यर्थ बकवाद से ली गई हैं, गरीबों पर और भी अधिक पशुतापूर्ण अत्याचार करने के पक्ष में पेश की जाती हैं।...यदि ब्राह्मण की शिक्षा की योग्यता आनुवंशिकता के कारण एक परिया से अधिक है, तो ब्राह्मण की शिक्षा के लिए व्यय करना बिलकुल बंद कर दो; सारा खर्च परिया की शिक्षा के लिए लगाओ। दान दुर्बल को दो, क्योंकि सारे दान की आवश्यकता वहाँ है। यदि ब्राह्मण जन्म से बुद्धिमान है, तो वह बिना सहायता के शिक्षित बन सकता है। और यदि दूसरे लोग जन्म से बुद्धिमान नहीं हैं, तो सारी शिक्षा और सभी शिक्षक, जितना उनको आवश्यक हो, उन्हीं के लिए रहें। मेरी समझ में यही न्याय और तर्कसंगत बात है। इसी लिए हमारे गरीब लोगों को, भारत के इन पददलित जनसाधारण को सुनना चाहिए और समझना चाहिए कि वे यथार्थ में क्या हैं। प्रत्येक पुरुष, स्त्री और बालक—जाति या जन्म, निर्बलता या सबलता का विचार न करते हुए—यह बात सुने और सीखे कि सबल और दुर्बल, उच्च और नीच प्रत्येक के भीतर वह अनन्त आत्मा है, जो सभी को महान् और सत्पुरुष बनने की अपरिमित सम्भावना और अपरिमित योग्यता का विश्वास दिलाती है। प्रत्येक व्यक्ति को हम यही र कहें कि "उठो, जागो और उद्देश्य की प्राप्ति होते तक मत।"* उठो! जागो! दुर्बलता की इस मोहिनी से जग ! सच पूछो तो दुर्बल कोई नहीं है; आत्मा अनन्त है,

* "उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्य वरान्निबोधत।"—कठोपनिषद्, १।३।१४

सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ हैं। खड़े होओ, अपना अस्तित्व स्थापित करो, अपने अन्तःस्थित ईश्वर की घोषणा करो; उसके अस्तित्व का निषेध मत करो!

हमारा कार्य निराश्रित, गरीब, अपढ कृपक और मजदूर वर्गों के लिए है; और पहले उनके लिए सब कुछ कर चुकने के पश्चात् यदि समय शेष रहा, तो हम शिक्षित सभ्य लोगो के लिए कार्य करेंगे। कृपक और मजदूर लोगो को हम प्रेम-द्वारा जीत लेंगे।...."प्रत्येक को अपने ही प्रयत्न द्वारा अपनी उन्नति करनी चाहिए," यह बात सभी क्षेत्रों मे लागू है। हम उन्हें सहायता देते हैं, ताकि वे अपनी सहायता आप ही करें।... जिस क्षण वे अपनी स्थिति को समझ जाएँगे और सहायता एवं सुधार की आवश्यकता उन्हें महसूस होगी, तब तुम यह जान लेना कि तुम्हारे कार्य का असर हो रहा है और तुम्हारे कार्य की दिशा ठीक है। धनिक वर्ग के लोग दया के वश होकर जो थोड़ी भलाई करते हैं, वह स्थायी नही होती और अन्त में उससे दोनों पक्षों की हानि होती है। कृपक और मजदूर वर्ग मरणासन्न अवस्था में है; अतः यही आवश्यक है कि धनी लोग उन्हे अपना जीवन पुनः प्राप्त करने के लिए सहायता दें, इससे अधिक और कुछ नही। फिर कृपक और मजदूरों को स्वय अपनी समस्याओं के विपय में प्रयत्न करने, विचार करने और हल करने के लिए छोड़ दें। परन्तु इतनी सावधानी अवश्य रखनी होगी कि गरीब कृपक-मजदूर और धनी वर्गों के बीच कलह न खड़ा हो जाय।

जाता? स्वयं अज्ञ रहते हुए भी, व्यापार के साथ-साथ वह एक देश की विद्या, बुद्धि, कला और विज्ञान को भी दूसरे देश में ले जाता है।...

और वे लोग कहाँ हैं, जिनके शारीरिक परिश्रम के कारण ही ब्राह्मण को प्रभाव, क्षत्रिय को वीरता और वैश्य को धन प्राप्त होता है? उनका इतिहास क्या है, जो समाज का प्रधान अंग होते हुए भी सभी समय सभी देशों में 'नीच' कहलाए जाते हैं?... भारतवर्ष को छोड़ अन्य देशों के शूद्र, प्रतीत होता है, कुछ जाग्रत् हो चुके हैं; परन्तु उनमें समुचित शिक्षा का अभाव है और उनमें अपने ही वर्ग के मनुष्यों के प्रति पारस्परिक घृणा, जो शूद्रों का स्वभाव-सा है, पाई जाती है। यद्यपि उनकी संख्या अन्य वर्गवालों से अधिक है, पर उससे उन्हें क्या लाभ? वह एकता, जिससे दस व्यक्ति में दस लाख की शक्ति इकट्ठा हो जाती है, शूद्रों से अभी वहुत दूर है। अतः प्रकृति के नियम के अनुसार सर्वदा शूद्र लोग ही प्रजा-वर्ग में रहा करते हैं।...

फिर भी एक समय ऐसा आएगा, जब शूद्र अपने 'शूद्रत्व' के साथ ऊपर चढ़ेंगे। वह उत्थान आज के समान नहीं होगा, जबकि शूद्र वैश्यों या क्षत्रियों के विशेष गुण प्राप्त करके ही ड़े होते हैं, वरन् ऐसा एक समय आएगा, जब प्रत्येक देश के शूद्र पनी जन्मजात शूद्र प्रकृति और आचरण के साथ ही—वस्तुतः वैश्य या क्षत्रिय बने विना ही, एवं शूद्र रहते हुए भी—प्रत्येक समाज में पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त करेंगे। इस नई शक्ति की प्रभातकालीन किरणों का धीरे-धीरे फैलना पश्चिमी संसार में प्रारम्भ गया है और विचारशील लोगों की बुद्धि इस नई घटना के ्तम परिणाम को सोच सकने में असमर्थ-सी हो गई है।

समाजवाद, विप्लववाद, शून्यवाद और इसी तरह के अन्य 'वाद' भविष्य में आनेवाली सामाजिक क्रान्ति के अग्रगामी सेनानी हैं। स्मृति-अतीत काल से शूद्र जिस दबाव और अत्याचार से पिसे जा रहे हैं, उसका परिणाम यही हुआ है कि वे या तो दवानवत् उच्च जातियों के पैरों को चाटनेवाले अधम दासवृत्ति के हो गए हैं, या हिंस्र पशुओं के समान निर्दय बन गए हैं।

पश्चिम में शिक्षा का प्रसार होने पर भी, शूद्र-वर्ग की उन्नति के मार्ग में बड़ी भारी रुकावट है—और वह है, कम या अधिक, अच्छे या बुरे गुणों के आधार पर निश्चित होनेवाली जाति की स्वीकृति। प्राचीन समय में भारतवर्ष में यही गुण-द्वारा जाति-निर्णय प्रचलित था, जिससे शूद्र-वर्ग को हाथ-पैर बाँधकर नीचे दबाकर रखा गया था। प्रथम तो, शूद्र को धन-सचय या यथार्थ ज्ञान या शिक्षा प्राप्त करने के लिए कदाचित् ही कोई अवसर दिया जाता था; फिर उसके ऊपर यह भी होता था कि यदि शूद्र जाति में कोई असाधारण बुद्धि और योग्यतावाला मनुष्य पैदा हो जाय, तो समाज के प्रभावशाली उच्च वर्गवाले व्यक्ति तुरन्त उस पर पदवियों-द्वारा सम्मान की वृष्टि करके उसे स्वयं अपने वर्ग में उठा लेते थे। इस प्रकार उसकी सम्पत्ति और बुद्धि की शक्ति का उपयोग अन्य जाति के लाभ के लिए हो जाता था, जबकि उसके अपनी जातिवाले उसके गुणों से कोई लाभ नहीं उठा पाते थे। और इतना ही नहीं, उच्च जातियों के निकम्मे लोग बाहर निकाल दिए जाते थे तथा शूद्रों के वर्ग में, उनकी संख्या बढ़ाते हुए फेंक दिए जाते थे।

वशिष्ठ, नारद, सत्यकाम जाबाल, व्यास, कृप, द्रोण, कर्ण तथा अन्य दूसरे, जिनके माता-पिता के सम्बन्ध में निश्चित

मानव-समाज का शासन क्रमशः एक दूसरे के बाद चार जातियों-द्वारा हुआ करता है और ये जातियाँ हैं—पुरोहित, योद्धा, व्यापारी और मजदूर। . . .सबसे अन्त में मजदूर या शूद्र का राज्य आएगा। उससे लाभ होगा—भौतिक सुख-साधनों का समान रूप से वितरण, और हानि होगी—(सम्भवतः) संस्कृति का अधःपतन।

साधारण संस्कृति का विस्तार बहुत बढ़ेगा, पर असाधारण बुद्धिमान लोग अधिकाधिक कम होते जायेंगे।

यदि इस प्रकार का एक राष्ट्र बन सके, जहाँ पुरोहित का ज्ञान, योद्धा की संस्कृति, व्यापारी की वितरणशीलता और अन्तिम वर्ग की समता का आदर्श ज्यों-के-त्यों बने रहें पर उनके दोष अलग हटा दिए जायें, तो वह आदर्श राष्ट्र होगा। पर ऐसा हो सकना क्या सम्भव है?

प्रथम तीन तो अपने दिन भोग चुके। अब चौथी अर्थात् शूद्र जाति का समय आया है। उनको वह मिलना ही चाहिए—उसे कोई रोक नहीं सकता। स्वर्ण-मान या रजत-मान सम्बन्धी सारी समस्याओं को मैं नहीं जानता (कोई भी शायद उसके बारे में अधिक नहीं जानता); पर यह मैं अनुभव करता हूँ कि स्वर्ण-मान गरीब को अधिक गरीब और धनी को अधिक धनी बना रहा है। ब्रायन का कहना ठीक था कि "हम सोने की सूली पर प्राण देने से इनकार करते हैं।" रजत-मान गरीब को इस एक और भावी पड़ने-वाले युद्ध में अधिक अच्छा अवसर देगा। मैं समाजवादी हूँ, इसलिए नहीं कि मैं उसे सभी बातों में पूर्ण मानता हूँ, वरन् इसलिए कि 'अन्धे मामा से काना मामा अच्छा।'

समाज के सभी व्यक्तियों को धन, विद्या और ज्ञान उपार्जन करने के लिए एकसमान अवसर मिलना चाहिए।...हरएक विषय में स्वतंत्रता अर्थात् मुक्ति की ओर प्रगति ही मनुष्य के लिए उच्चतम लाभ है।...जो सामाजिक नियम इस स्वतंत्रता के विकास के मार्ग में बाधक हैं, वे हानिकारक हैं और उनको नष्ट करने का उपाय शीघ्रता से करना चाहिए। जिन संस्थाओं के द्वारा मनुष्य स्वतंत्रता के मार्ग में अग्रसर होते हैं, उन्हें प्रोत्साहित करना चाहिए।

स्मरण रहे, राष्ट्र झोपड़ियों में बसता है।

भारतवर्ष के कृषक, चर्मकार, मेहतर तथा ऐसे ही अन्य निम्न जातिवालों में कार्य करने की शक्ति एवं आत्मविश्वास तुम्हारी अपेक्षा अधिक है। वे कई युगों से चुपचाप काम करते आए हैं और वे ही देश की सम्पूर्ण सम्पत्ति, बिना चूँ तक किए कमाते आए हैं। बहुत शीघ्र ही वे तुमसे ऊँचे पद में पहुँच जाएँगे। क्रमशः पूँजी उन्हीं के हाथों में जा रही है। और आवश्यकताओं के बाहुल्य के कारण तुम्हें जितना कष्ट है, उतना उन्हें नहीं। वर्तमान शिक्षा ने तुम्हारा रहन-सहन तो बदल दिया है, पर धन-प्राप्ति के नए मार्ग, आविष्कारी बुद्धि के अभाव में, अभी तक नहीं खोजे गए हैं। इस सहनशील जनता का तुमने इतने दिनों तक दमन किया है; अब उसके प्रतीकार का समय आ गया है। और अब, तुम नौकरी को ही अपने जीवन का सर्वस्व बनाकर, उसकी वृथा खोज में मर मिटोगे!

यदि मजदूर लोग काम करना बंद कर दें, तो तुम्हें अन्न-वस्त्र मिलना भी बन्द हो जाय। और तुम उनको नीच जाति के मनुष्य मानते हो और अपनी संस्कृति की डींगें मारते हो!

आजीविका के संग्राम में व्यस्त रहने के कारण उन्हें अपने में ज्ञान की जागृति का अवसर नहीं मिला। वे इतने दिनों तक मानव-बुद्धि-द्वारा चलनेवाले यंत्र के समान सतत काम करते रहे हैं और चतुर शिक्षित समुदाय ने उनके परिश्रम के फल का सार अंश ले लिया है। प्रत्येक देश में ऐसा ही हुआ है। पर अब जमाना बदल गया है। निम्न जातियाँ साधारणतः इस विषय की ओर जाग्रत् हो रही हैं और अपना यथोचित स्वत्व बलात् ग्रहण करने के लिए इसका सामूहिक विरोध कर रही हैं।... अब उच्च जातिवाले नीच जातिवालों को और अधिक समय तक दबा नहीं सकते, चाहे वे इसके लिए कितनी ही कोशिश क्यों न करें। उच्चतर जातियों का कल्याण अब इसी में है कि वे निम्न जातियों को उनके यथोचित अधिकार प्राप्त करने में सहायता दें।

जब जनसाधारण जाग उठेंगे, तब वे अपने ऊपर किए जानेवाले तुम्हारे अत्याचारों को जान लेंगे और तब उनके मुँह की एक फूँक से ही तुम पूरे-के-पूरे उड़ जाओगे! उन्होंने ही तुम्हारे बीच सभ्यता का प्रवेश कराया है और वे ही उस सभ्यता के ढहानेवाले होंगे। इस बात को याद करो कि 'गॉल' (Gauls) लोगों के हाथों से शक्तिशाली पुरातन रोमन-सभ्यता धूलि में मिला दी गई! इसी कारण मैं कहता हूँ, इन निम्न जातियों को विद्या और संस्कृति प्रदान करके उनको निद्रा से जगाओ। जब वे जाग जाएँगे—और एक दिन वे जागेंगे अवश्य—तब वे अपने प्रति की हुई तुम्हारी हितकारी सेवा को भूलेंगे नहीं और तुम्हारे प्रति कृतज्ञ रहेंगे।

भारतवर्ष के इन गरीब, निम्न जातिवालों के प्रति हमारे जो भाव हैं, उनका विचार करने से मेरे अन्तःकरण में कितनी

वर्तमान समय में तुम्हारा कर्तव्य है कि तुम एक गाँव से दूसरे गाँव को जाओ और लोगों को समझाओ कि अब और अधिक समय तक आलस्यपूर्वक केवल बैठे रहने से काम नहीं चलेगा। उन्हें उनकी यथार्थ स्थिति का परिचय कराओ और कहो, "ऐ भाइयो ! सब लोग उठो ! जागो ! अब और कितनी देर तक सोते रहोगे !" . . . अब तक ब्राह्मणों ने धर्म पर एकाधिपत्य कर रखा है; परन्तु जब वे काल की प्रबल तरंग के विरुद्ध अपना एकाधिपत्य नही रख सकते, तब चलो, और ऐसे प्रयत्न करो कि देश भर में प्रत्येक को वह धर्म प्राप्त हो जाय। उनके मन में यह बैठा दो कि ब्राह्मणों के समान उनका भी धर्म पर वही अधिकार है। सभी को, चाण्डाल तक को भी, इन्ही जाज्वल्यमान मंत्रों का उपदेश करो। उन्हें सरल शब्दों में जीवन के लिए आवश्यक विषयों तथा वाणिज्य-व्यापार और कृषि आदि की भी शिक्षा दो। यदि तुम ऐसा नही कर सकते, तो धिक्कार है तुम्हारी शिक्षा और संस्कृति को, धिक्कार है तुम्हारे वेदो और वेदान्त के अध्ययन को ! भारत की उच्च जातिवालो, तुम चाहे जितना भी अपने को आर्य पूर्वजों की सन्तान कहने का प्रदर्शन करो, चाहे जितना भी प्राचीन भारत के वैभव का रात-दिन गुणगान करो और अपने जन्म के अभिमान में अकड़ते रहो—पर क्या तुम ऐसा समझते हो कि तुम सजीव हो ? तुम तो दस सहस्र वर्ष से सुरक्षित रखे हुए मृत देह (Mummies) जैसे ही हो ! भारतवर्ष में जो थोड़ी-बहुत जीवन-शक्ति अभी भी है, वह उन्हीं में मिलेगी, जिन्हें तुम्हारे पूर्वज 'चलते-फिरते, सड़े, गन्दे मांसपिण्ड' मानकर घृणा करते थे; और यथार्थ में 'चलते हुए मुरदे' तो तुम लोग हो। तुम्हारे घर-द्वार, तुम्हारे साज-सामान ऐसे निर्जीव और पुराने हैं

वाले किसानों की कुटिया से, मछुए, मोचियों और मेहतरों की झोपड़ियों से होवे। बनिये की दूकान से, रोटी बेचनेवाले की भट्ठी के पास से वह प्रकट हो। कारखानों, हाटों और बाजारों से वह निकले। वह 'नव भारत' अमराइयों और जंगलों से, पहाड़ों और पर्वतों से प्रकट हो। ये साधारण लोग सहस्रों वर्ष अत्याचार सहते आए हैं—बिना कुड़बुड़ाए यह सब सहा है और परिणाम में उन्होंने आश्चर्यकारक धैर्य-शक्ति प्राप्त कर ली है। वे सतत विपत्ति सहते रहे हैं, जिससे उन्हें अविचल जीवन-शक्ति प्राप्त हो गई है। मुट्ठी भर अन्न से पेट भरकर वे संसार को कँपा सकते हैं; उनको तुम केवल आधी रोटी दे दो, और देखोगे कि सारे संसार का विस्तार उनकी शक्ति के समावेश के लिए पर्याप्त न होगा। उनमें 'रक्तबीज' की अक्षय जीवन-शक्ति भरी है। इसके अतिरिक्त, उनमें पवित्र और नीतियुक्त जीवन से आनेवाला वह आश्चर्यजनक बल है, जो संसार में अन्यत्र नहीं मिलता। ऐसी शान्ति, ऐसा संतोष, ऐसा प्रेम और चुपचाप सतत कार्य करने की ऐसी शक्ति और कार्य के समय इस प्रकार सिंह-बल प्रकट करना—यह सब तुम्हें अन्यत्र कहाँ मिलेगा? भूतकाल के कंकाल! देखो, तुम्हारे सामने तुम्हारे उत्तराधिकारी खड़े हैं—भावी भारतवर्ष खड़ा है। अपने खजाने की उन पिटारियों को और उन रत्नजड़ित मुद्रिकाओं को उनके बीच जितनी जल्दी हो सके, फेंक दो और तुम हवा में मिल जाओ, फिर कभी दिखाई न दो—केवल अपने कानों को खोले रखो। अपने अदृश्य होते ही तत्काल तुम पुनर्जात भारतवर्ष का वह प्रथम उद्घोष सुनोगे, जिसकी करोड़ों गर्जनाओं से सारे विश्व में यही पुकार गूँजती रहेगी—"वाह गुरु की फतह!"

हमारे अन्य प्रकाशन

हिन्दी विभाग

१ श्रीरामकृष्णवचनामृत—तीन भागों में—अनु० पं. सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', प्रथम भाग (तृतीय संस्करण)— मूल्य ६); द्वितीय भाग (द्वि. सं.)—मूल्य ६); तृतीय भाग (द्वि. म.)—मूल्य ७);

५. श्रीरामकृष्णलीलामृत—(विस्तृत जीवनी)—(तृतीय संस्करण)—दो भागों में, प्रत्येक भाग का मूल्य ५)

६ विवेकानन्द-चरित—(विस्तृत जीवनी)—(द्वितीय संस्करण)—सत्येन्द्रनाथ मजूमदार, मूल्य ६)

७. परमार्थ-प्रसंग—स्वामी विरजानन्द, (आर्ट पेपर पर छपी हुई)
कपड़े की जिल्द, मूल्य ३।।।)
कार्डबोर्ड की जिल्द, ,, ३।)

स्वामी विवेकानन्द कृत पुस्तकें

८. विवेकानन्दजी के संग में—(वार्तालाप)—शिष्य शरच्चन्द्र, द्वि सं. मूल्य ५।)

९. भारत में विवेकानन्द (द्वि.म.) ५)
१० ज्ञानयोग (प्र. सं.) ३)
११. पत्रावली (प्रथम भाग) (प्र. सं.) २=)
१२. पत्रावली (द्वितीय भाग) (प्र. सं.) २=)
१३. देववाणी (प्र. स.) २=)
१४. धर्मविज्ञान (द्वि. सं.) १।।=)
१५ कर्मयोग (द्वि. सं.) १।।=)
१६. हिन्दू धर्म (द्वि. सं.) १।।)
१७. प्रेमयोग (तृ. सं.) १।=)
१८. भक्तियोग (तृ. स.) १।=)
१९. विवेकानन्दजी से वार्तालाप (प्र. सं.) १।=)
२०. आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग (प्र. सं.) १।)
२१. महापुरुषों की जीवनगाथायें (प्र. सं) १।)
२२. परिव्राजक (प्र. सं.) १।)
२३ प्राच्य और पाश्चात्य (प्र. सं) १।)
२४ विविध प्रसंग (प्र. स.) १=)
२५ व्यावहारिक जीवन में वेदान्त (प्र सं.) १=)
२६. राजयोग (प्र. सं.) १=)
२७ स्वाधीन भारत! जय हो! (प्र. सं.) १=)
२८. चिन्तनीय बातें (प्र सं.) १)
२९. धर्मरहस्य (द्वि. सं.) १)
३०. भगवान रामकृष्ण धर्म तथा संघ (द्वि. सं.) ।।।=)
३१. भारतीय नारी (द्वि. सं) ।।।)
३२ शिक्षा (द्वि सं) ।।=)

३३. शिकागो-वक्तृता (ष. सं.) ॥=)
३४. हिन्दू धर्म के पक्ष में (द्वि. सं.) ॥=)
३५. मेरे गुरुदेव (द्वि. सं.) ॥=)
३६. कवितावली (प्र. सं.) ॥=)
३७. शक्तिदायी विचार (द्वि. सं.) ॥=)
३८. हमारा भारत (प्र. सं.) ॥)
३९. वर्तमान भारत (च. सं.) ॥)
४०. मेरा जीवन तथा ध्येय (द्वि. सं.) ॥)
४१. पवहारी बाबा (द्वि. सं.) ॥)
४२. मरणोत्तर जीवन (द्वि. सं.) ॥)
४३. मन की शक्तियाँ तथा जीवन-गठन की साधनायें (प्र. सं.) ॥)
४४. सरल राजयोग (प्र. सं.) ॥)
४५. मेरी समर-नीति (प्र. सं.) ।≡)
४६. ईशदूत ईसा (प्र. सं.) ।=)
४७. विवेकानन्दजी की कथायें (प्र. सं.) १।)

---

४८. श्रीरामकृष्ण-उपदेश (द्वि. सं.) ॥।)
४९. वेदान्त—सिद्धान्त और व्यवहार—स्वामी सारदानन्द, (प्र. सं.) ।=)
५०. गीतातत्त्व—स्वामी सारदानन्द, (प्र. सं.) २।=)

मराठी विभाग

१-२. श्रीरामकृष्ण-चरित्र—प्रथम भाग (तिसरी आवृत्ति) ४।
द्वितीय भाग (दुसरी आवृत्ति) ४।=
३. श्रीरामकृष्ण-वचनामृत —(पहिली आवृत्ति)—(अंतरंग शिष्यांशीं व भक्तांशीं झालेलीं भगवान श्रीरामकृष्णांचीं संभाषणें) ५॥
४. महापुरुषांच्या जीवनकथा—(पहिली आवृत्ति)—स्वामी विवेकानंद १॥=
१॥=
५. कर्मयोग—(पहिली आवृत्ति)—स्वामी विवेकानंद ॥=
६. माझे गुरुदेव—(दुसरी आवृत्ति)—स्वामी विवेकानंद ॥-
७. हिंदु धर्माचें नव-जागरण—(पहिली आवृत्ति)—स्वामी विवेकानंद ॥-
॥-
८. शिक्षण—(पहिली आवृत्ति)—स्वामी विवेकानंद ॥
९. पवहारी बाबा—(पहिली आवृत्ति)—स्वामी विवेकानंद ॥=
१०. शिकागो व्याख्यानें—(तिसरी आवृत्ति)—स्वामी विवेकानंद
११. श्रीरामकृष्ण-वाक्सुधा—(तिसरी आवृत्ति)—भगवान श्रीरामकृष्णांच्या निवडक उपदेशांचें त्यांच्याच एका अंतरंग भक्ताने केलेलें संकलन. ॥=
१२. साधु नागमहाशय-चरित्र (भगवान श्रीरामकृष्णांचे सुप्रसिद्ध शिष्य)- (दुसरी आवृत्ति) २६.

श्रीरामकृष्ण आश्रम, धन्तोली, नागपुर-१, म. प्र.